CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

२९५.
क ३४५९ स

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
STATE MUSEUM, LUCKNOW
LIBRARY
Acc. No. 3858
Book No. 294.
क स

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

3858

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साधुदर्शन व सत्प्रसंग

[प्रथम भाग]

(मूल बंगला से अनूदित)

लेखक :
महामहोपाध्याय डा० श्रीगोपीनाथ कविराज

अनुवादक
पं० श्रीकृष्ण पन्त, साहित्याचार्य
पुस्तकाध्यक्ष—विश्वनाथ पुस्तकालय
ललिता घाट, वाराणसी

क्रम 3858
12.12.68
Museum, Library, Lko.

भारतीय विद्याप्रकाशन
वाराणसी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकाशक
भारतीय विद्याप्रकाशन
पो० बा० १०८, कचौड़ीगली,
वाराणसी

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय लखनऊ
19/12/69
294
क ह

प्रथम संस्करण
अप्रैल, १९६७ ई०
मूल्य १०.००

राज्य संग्रहालय
क्र. 3858
प्रा 19/12/69
State Museum, Library
38528
19.12.69
38558
19.12.69

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
बी० २०/४४, भेलूपुर, वाराणसी-१

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विषयक्रम

१. महात्मा ज्योतिजी १

२. तत्सङ्गी महात्मा की कथा ९१

३. सोहं सिद्ध बाबा का वृत्तान्त १०२

४. रामठाकुर की कथा १३२

५. एक अद्भुत बालक की कहानी १५४

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राक्कथन

अध्यात्मजीवन की आकांक्षा के प्रथम उन्मेष से ही 'साधुदर्शन और सत्प्रसङ्ग' के लिये हृदय में एक प्रबल पिपासा जाग उठी थी। प्राच्य और पाश्चात्य देशों के विभिन्न युगों के और विभिन्न सम्प्रदायों के सन्तों व भक्तों के जीवन चरित का तब मैं आग्रह-सहित अध्ययन करता था। सन्तों के धर्मगत, धारागत, साधन-प्रणालीगत और सामाजिक-स्थितिगत समस्त बाह्य भेदों की उपेक्षा करके, आत्मा व भगवत्तत्त्व के सम्बन्ध में केवल परोक्ष ज्ञान नहीं, प्रत्यक्ष अनुभव-लाभ करना जिनके जीवन का एक मात्र लक्ष्य रहा है, ऐसे महाजनों की चरित कथा सुनना व पढ़ना अच्छा लगता था, और ऐसे महाजनों के साक्षात् दर्शन का सौभाग्य मिलने पर मैं अपने को धन्य समझता था।

तत्त्वरूपी भगवान् तो एक और अखण्ड हैं, फिर भी मनुष्य अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार खण्डभाव से उनकी धारणा करने का यत्न करते हैं। यह स्वाभाविक है। इसीलिए उनकी ओर अग्रसर होने के पन्थ भी जगत् में इतने विचित्र हैं। केवल विचित्र नहीं—कभी-कभी परस्पर विरुद्ध भी प्रतीत होते हैं। किन्तु विरुद्ध प्रतीत होने पर भी वे वस्तुतः विरुद्ध नहीं हैं। वास्तविक बात यह है कि उनकी कृपा के बिना किसी भी पन्थ से उन्हें पाया नहीं जा सकता। आगम में कहा है—

'उपायजालं न शिवं प्रकाशयेत्, घटेन किं भाति सहस्रदीधितिः।
विवेचयन्नित्थमुदारदर्शनः स्वयंप्रकाशं शिवमाविशेत् क्षणात्॥'

अर्थात् ऐसा कोई उपाय नहीं है, जो आत्मरूपी शिव को प्रकाशित करने में समर्थ हो—स्वच्छ दृष्टि-सम्पन्न पुरुष को जब इस प्रकार विवेक उत्पन्न होता है, तब क्षण भर में ही स्वप्रकाश शिवतत्त्व में समावेश घटित हो सकता है।

श्रुति में भी है—'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' अर्थात् आत्मा जिसका वरण करता है, वही उसे प्राप्त कर सकता है, वह जिसे चाहता है वही उसे पाता है, अन्य कोई उसे नहीं पा सकता। जो कोई जो कुछ चाहता है, उपाय के सहकार से प्रयत्न करने पर उसे वह अवश्य ही मिलता है; इसीलिये प्रत्येक पन्थ में ही सार्थकता है यह सत्य है, किन्तु परम सार्थकता यह नहीं है। उसे अपने स्वरूप में पाना ही परम सार्थकता है—वस्तुतः उसे पाना ही अपने को पाना है एवं सब कुछ पाना है। यह महाकृपा की अपेक्षा रखता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसीलिए उसके पथ में उसे लक्ष्य बना कर चलनशील पथिकमात्र ही हमारे प्रणम्य हैं। सभी के चरित्र और उपदेश अधिकार के अनुसार हमारा कल्याण-साधन करते हैं। वस्तुतः अक्षुब्धचित्त साधक के लिये सभी श्रीगुरु की ही मूर्त्ति-विशेष हैं। व्यक्तिगत भाव से मैं अपने जीवन में बहुत प्रकार से अपने को उन लोगों के निकट ऋणी समझता हूँ और सर्वदा उनके एवं उनके माध्यम से श्रीमाता के शुभाशीर्वाद की कामना करता हूँ।

जिन महात्माओं की कथा इस ग्रन्थ में सन्निविष्ट हुई है, उनके विवरण मैंने कुछ वर्ष पूर्व 'हिमाद्रि' साप्ताहिक पत्रिका में प्रकाशित किये थे। बन्धुवर्ग के अत्यन्त अनुरोध से वे प्रबन्ध 'साधुदर्शन और सत्प्रसङ्ग' शीर्षक से ग्रन्थाकार में बंगला में प्रकाशित हुए। प्रथम भाग में 'हिमाद्रि' में प्रकाशित पाँच कथाओं का सन्निवेश हुआ है। उसमें प्रकाशित बाकी कथायें द्वितीय भाग में निकल चुकी हैं। कथा और भी बहुत-सी हैं, किन्तु वे अभी 'हिमाद्रि' में प्रकाशित नहीं हुई हैं। यदि श्रीमाता की इच्छा हुई एवं आकस्मिक बाधा विघ्न न हुए तो आशा है भविष्य में वे सब भी यथासम्भव प्रकाशित होंगी।

जिन महाजनों के उपदेश का संकलन किया है, उनके बाह्य जीवन और तत्संक्रान्त घटनाओं की चर्चा मैंने नहीं की है। उनकी बाह्य प्रतिष्ठा और शास्त्र-ज्ञानादि की मात्रा के सम्बन्ध में भी मुझे कोई औत्सुक्य नहीं था, इसलिए उन सब की चर्चा भी मैंने नहीं की है। पूर्ण सत्य की गम्भीर और व्यापक अनुभूति में से जिसके पास से जितना-सा अपनी धारणा शक्ति के अनुसार मैं ग्रहण कर सका उतना ही लिपिबद्ध किया है। यह अनुलेखन दीर्घकाल के बाद अस्पष्ट स्मृति पर निर्भर करके नहीं किया गया है। जिस दिन जिस विषय की चर्चा होती थी, साधारणतः उसी दिन रात्रि के समय उसका सारांश सङ्कलित करके रख लेता था। उसी के आधार पर यथासम्भव संक्षेप से यह विवरण रचित हुए हैं। तथापि किसी महात्मा के उपदेश वा वक्तव्य में से यदि कुछ प्रमाद या स्खलन हुआ हो तो वह मेरी भ्रान्त धारणा के कारण ही हुआ होगा; फिर भी उसके लिये मैं अपने को दोषी समझता हूँ। किन्तु यह सत्य है कि मैंने उनके किसी उपदेश को प्रचलित सिद्धान्तानुगत बना कर सजाने का यत्न नहीं किया है। एवं उनकी व्यवहृत परिभाषा को भी यथासम्भव यथाश्रुत रखने का ही यत्न किया है।

साधक के जीवन में इन सब अनुभवमूलक उपदेशों व तत्त्व-कथाओं का काफ़ी मूल्य है, यह सोचकर इन सब लेखों को सुदीर्घ काल तक बड़े यत्न से सँभालकर रखता रहा हूँ। शास्त्र के साथ इन सब वचनों को मिलाने का मैंने यत्न नहीं किया है। कर्मी साधक स्वयं स्वानुभव, युक्ति और शास्त्र के तात्पर्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के साथ उन्हें मिला लेंगे। प्रस्थान-भेद से दृष्टिकोण की विभिन्नता के कारण विभिन्न शास्त्र-ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार के तत्त्व-विचार और शास्त्र-विश्लेषण की पद्धति दिखाई देती है। प्रसिद्धि भी है 'नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्'। बहुश्रुत और अनुभूतिसम्पन्न व्यक्ति रागद्वेषादि संस्कार-मुक्त चित्त से यदि इनका अनुशीलन करेंगे तो इन सब में परस्पर समन्वय कर सकेंगे यह सच है। शायद इसीलिए आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने 'प्रस्थान भेद' में 'न हि ते मुनयो भ्रान्ताः' कहकर भिन्न-भिन्न मुनियों के भिन्न-भिन्न मत को भी सत्य कहकर स्वीकार किया है। श्रोता के अधिकार-भेद से उपदेष्टा पुरुष का भी उपदेश-दान भिन्न होता है। साधकों के विभिन्न प्रकार के अनुभूतिलाभ के मूल में भी वैसा ही अधिकार-वैचित्र्य है यह कहा जा सकता है। जिस स्थिति में मानवीय भाषा द्वारा, यहाँ तक कि दिव्य भाषा द्वारा भी वर्णन नहीं हो सकता, वह स्थिति पृथक् है, और जहाँ वर्णन हो सकता है वहाँ विकल्प का आश्रय लेकर ही निर्विकल्प तत्त्व को समझाने का यत्न करना होता है। मनोभूमि की विचित्रता के कारण विकल्प की विचित्रता स्वाभाविक है। यह हुई एक ओर की बात। दूसरी ओर यदि यह कहा जाय कि सन्तों में से सभी मनोवागतीत भूमि को प्राप्त होकर विकल्प के द्वारा तत्त्व की व्याख्या किया करते हैं, तो भी सत्य का अपलाप होगा। उनमें से बहुत से आरोह पथ में चलनशील पथिक हैं, यह सत्य है। इसीलिये स्थूलतः अनुभूति की विचित्रता और तज्जन्य तत्त्वविचार का पार्थक्य व्यक्तिगत अधिकार के वैचित्र्यवशतः स्वाभाविक ही प्रतीत होता है।

ग्रन्थ में कहीं-कहीं शायद पुनरुक्ति हो गई है, किन्तु विषय की स्पष्टता के लिये शायद वह आवश्यक है, तथापि उसके लिये मैं क्षमाप्रार्थी हूँ। विभिन्न समयों पर विभिन्न प्रसङ्गों में उत्थापित शङ्काओं के समाधानमूलक विवरण में आलोच्य विषय की भावाभिव्यक्ति का क्रम बनाये रखना भी सर्वत्र सम्भव नहीं हुआ है, यह कहना अनावश्यक है।

हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करने के लिए श्रीकृष्ण पन्त साहित्याचार्य और प्रूफ-संशोधन में सहायता के लिए डॉ० कु० प्रेमलता शर्मा आशीर्वाद-भाजन हैं। प्रकाशन-व्यवस्था के लिए 'भारतीय विद्याप्रकाशन' के संचालक श्रीकिशोरचन्द जैन और मुद्रण के लिए श्रीबाबूलाल जैन फागुल्ल, महावीर प्रेस, धन्यवाद के पात्र हैं।

वैशाख,
विक्रम संवत् २०२४
सिगरा, वाराणसी

श्रीगोपीनाथ कविराज

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महात्मा ज्योतिर्जी

लगभग ४३ वर्ष व्यतीत हुए होंगे, एक दिन मैं अपने अन्तरङ्ग मित्रों के साथ सन्ध्या समय काशीधाम में गङ्गाजी के तट पर एक बड़ी चौकी पर बैठ कर विविध विषयों में आलोचना कर रहा था। आलोच्य विषयों में वास्तविक साधु या महापुरुष एवं सद्गुरु की चर्चा ही अधिक मात्रा में रही।

वर्तमान युग में काल के प्रभाव से वास्तविक महापुरुष अत्यन्त दुर्लभ हो उठे हैं, यह सभी मानते हैं। अपने मित्रों में उस समय श्री उ...बाबू के साथ विशेषरूप से मेरी विचार-चर्चा चल रही थी। वे दर्शनशास्त्र में एम्. ए. पास कर उस समय विशेष कुशलता के साथ अध्यापन कार्य में नियुक्त थे। पवित्र जीवन, सद्धर्म में अनुराग, साधु महात्माओं के प्रति सहज श्रद्धा एवं आध्यात्मिक जीवन को उन्नत बनाने की आन्तरिक व्याकुलता, यह उनके चरित्र का वैशिष्ट्य था। वे परमहंस रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के भक्त थे एवं अयोध्या और वृन्दावन के उस समय के विशिष्ट महात्माओं के साथ घनिष्ठरूप से परिचित थे। आगे चल कर वे शिक्षा विभाग के अति उच्च आसन पर अधिष्ठित हुए थे, किन्तु मैं इस प्रसङ्ग में उनका परिचय देना नहीं चाहता।

वार्तालाप के सिलसिले में उन्होंने मुझ से कहा कि मेरे एक आत्मीय ने अत्यन्त बाल्यावस्था में ही एक जीवन्मुक्त महापुरुष के सम्पर्क में आकर जीवन में अलौकिक उन्नति प्राप्त की है। उनकी अवस्था मेरे मित्र की अवस्था से बहुत अधिक नहीं थी, किन्तु इस अल्प वय में ही उनमें जो गुणगरिमा और अलौकिक शक्ति का विकास हुआ था, वह वास्तव में बहुत दुर्लभ है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मित्र ने कहा, उनके वे आत्मीय स्थूल देह से सूक्ष्म देह को पृथक् कर अपने इच्छानुसार, सुधबुध के साथ, लोकलोकान्तर में भ्रमण कर सकते हैं एवं प्रयोजन होने पर परलोकगत अति प्राचीन काल के महात्माओं के साथ भी भेंट कर उनसे अपने प्रश्नों का समाधान प्राप्त कर सकते हैं। वे योगी नहीं हैं, किन्तु यह असाधारण सामर्थ्य एक महापुरुष के अनुग्रह से उन्हें प्राप्त हुई है।

उन्होंने कहा, वे महापुरुष अब भी समय-समय पर उन्हें दर्शन देते हैं एवं जीवन-पथ पर बहुत से विषयों में उन्हें सहायता पहुँचाते हैं।

थियोसाफिकल सोसाइटी की उस समय की अधिष्ठात्री, विदुषी एनी बेसेन्ट के निकट कृष्णमूर्ति अपने छोटे भाई के साथ जब उपस्थित हुए थे ठीक उसी समय मेरे मित्र के आत्मीय भी एनी बेसेन्ट द्वारा आमन्त्रित होकर कुछ समय के लिए उनके निकट आये थे। बंगाल के तत्कालीन सुप्रसिद्ध धर्मप्रचारक, वाग्मी स्व० कुलदाप्रसाद मल्लिक से मेरे मित्र के आत्मीय की ख्याति एनी बेसेन्ट ने पहले से सुन रखी थी। बाल्यावस्था में कृष्णमूर्तिजी में जिन सब शक्तियों का विकास था, उनमें से अधिकांश शक्तियाँ उनमें भी विद्यमान थीं।

मैं उन सज्जन का वास्तविक नाम छिपा कर उनका ज्योतिजी कह कर उल्लेख कर रहा हूँ। यह यद्यपि कल्पित नाम है, इसमें सन्देह नहीं, तथापि यह हमारा निजकल्पित नहीं है। बहुत दिन पूर्व "अलौकिक रहस्य" नामक पत्रिका के सम्पादक, प्रसिद्ध साहित्यिक स्व० क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोदजी ने ज्योतिजी से परिचित हो कर सर्वसाधारण में उनकी शक्ति के प्रचार के लिए यथासाध्य चेष्टा की थी। उस समय उनकी विशेष चेष्टा से और उन्हीं के हार्दिक आग्रह से ज्योतिजी ने कई तत्त्वभरे उपदेश प्रकाशित किये थे। वे सब पद्यबद्ध थे एवं "साधना और कर्म का मिलन" नाम से पुस्तिकाकार में प्रकाशित हुए थे। उसमें ग्रन्थकार ने अपना वास्तविक नाम छिपा कर "ज्योतिः" नाम से अपना परिचय दिया था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एनी बेसेन्ट और लेडविटर साहब ने कृष्णमूर्ति और ज्योतिजी को अलग अलग सूक्ष्म शरीर से आकाशमार्ग में संचरण करा कर उनसे उनका अपना अपना अनुभव लिपिबद्ध कराया था। ज्योतिजी अधिक समय तक एनी बेसेन्ट के तत्त्वावधान में रह नहीं पाये, क्योंकि उनके अभिभावकों के बुलाने पर उन्हें थोड़े दिनों के बाद ही घर लौट जाना पड़ा।

इस आलोचना के प्रसङ्ग में ज्योतिजी के संबंध में बहुत सी बातें मेरे मित्र ने मुझे बतलाईं थीं एवं वे सब बातें थीं उनके निज जीवन में अनुभूत सत्य। यह सुनकर तभी से मेरे हृदय में ज्योतिजी के दर्शन करने के लिए एक अस्पष्ट आकांक्षा जाग उठी थी। किन्तु साथ ही साथ यह भी मन में आता था कि वे इस समय कहाँ होंगे, उनकी जब एक जगह स्थिति नहीं तब उनके साथ भेंट होने का सुयोग किसी दिन उपस्थित होगा इसकी क्या संभावना? यह अनिश्चय का भाव लेकर ही तब मैंने अपने हृदय की आकांक्षा दबा रखी थी।

इसके बाद प्रायः तीन वर्ष बीत गये। तब मैं ज्योतिजी की बात एक प्रकार से भूल ही चुका था। किन्तु उसे भूलकर भी पूर्णरूप से मैं भुला नहीं सका। क्योंकि बीच-बीच में साधु महात्माओं का प्रसङ्ग उठते ही उनकी सब बातें मन में उभर पड़तीं एवं संभवपर होने पर उनके दर्शन करने की इच्छा लिए भी होती थी।

१९२५ की बात।

तब मेरा सद्यः मातृवियोग हुआ था। एक दिन मैं दोपहर के समय अपने अध्ययन-कक्ष में बहुत उदास हो कर बैठा था, इसी समय नीचे की मंजिल से दरवाजा खटखटाने का शब्द मुझे सुनाई पड़ा। मैंने समझा कोई भेंट करने आये हैं। दरवाजा खोलने के अभिप्राय से नीचे जाकर तथा दरवाजा खोलकर एक कृष्णवर्ण सौम्यमूर्ति युवक को मैंने देखा। उन्होंने मेरा नाम लेकर पूछा, यही क्या उनका मकान है?

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मैंने हामी भर कर तथा यह मेरा ही नाम है यह बतलाकर उनसे उनके परिचय की जिज्ञासा की ।

उनके उत्तर से जो मैं जान सका उससे यह समझने में मुझे विलम्ब नहीं लगा कि यह वे ही ज्योतिजी है जिनके सम्बन्ध में अपने पूर्वोक्त मित्र से मैंने बहुत सी अलौकिक बातें सुनी थीं ।

ज्योतिजी के दर्शन कर मैं एक ही साथ आनन्द और विस्मय उभय भाव से आविष्ट हुआ । बहुत दिनों की इच्छा की पूर्णता का अनुभव कर हृदय आनन्द से नाच उठा था, किन्तु इस प्रकार अतर्कित भाव से दर्शन पाकर चित्त में वस्तुतः ही विस्मय भाव की भी सीमा नहीं रही । इसे दैव का व्यापार समझ कर मैं ज्योतिजी को साथ लेकर ऊपर अपने अध्ययन-कक्ष में चढ़ आया एवं उनके साथ विविध विषयों में वार्तालाप करने लगा ।

उन्होंने कहा, मैं इस समय बंगाल से काशीधाम में आया हूँ एवं मेरी इच्छा है यदि बहुत अधिक असुविधा न हो तो कुछ दिन इस शिवपुरी में ही निवास करूँ । मे रहने योग्य एक स्थान आप खोज दें । यही मेरे प्रति उनका अनुरोध था ।

उस समय मेरे मकान में नीचे की मंजिल में एक बड़ा कमरा एक प्रकार से खाली ही था । यद्यपि वह बिलकुल खाली नहीं था, क्योंकि मेरे एक दूर के सम्बन्धी वृद्ध उस कमरे के एक छोर पर सोते थे । फिर भी उसे एक प्रकार से खाली ही माना जा सकता था । कमरा बड़ा था, इसलिए मैंने सोचा यदि ज्योतिजी को किसी प्रकार की असुविधा न हो तो वे कुछ दिनों के लिए अर्थात् अन्य किसी अच्छे स्थान में जाने के पूर्व तक यहाँ निश्चिन्त मन से तथा स्वाधीन भाव से रह सकते हैं । यह भाव लेकर मैंने उनसे सरसरी तौर पर कुछ दिनों के लिए मेरे उस निवासस्थान में ही टिकने का अनुरोध किया । उन्होंने भी उसे स्वीकार कर लिया ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसके अनन्तर कई महीनों तक ज्योतिजी मेरे निवासस्थान में ही पूर्वोक्त कमरे में रहे थे एवं बाद में उनके दूसरे स्थान में चले जाने पर भी प्राय: नित्य ही मेरे निकट आते एवं धर्मतत्त्व के सम्बन्ध में चर्चा करते थे।

ज्योतिजी के साथ अन्तरङ्गरूप से परिचित होकर मैं जान सका कि उनकी अन्तर्दृष्टि में प्रकाशित धारा के साथ मेरे अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण का अत्यन्त निगूढ सम्बन्ध है। इस प्रकार के अनुभव के यथेष्ट कारण घटे थे एवं उनके आधार पर बहुधा धर्मजीवन के स्वरूप और रहस्य के सम्बन्ध में विना किसी प्रकार के संकोच के आलोचना होती थी।

ज्योतिजी गृहस्थ थे, साधुवेषधारी नहीं थे एवं उनकी प्रकृति एक ओर जैसी नम्र और सूक्ष्मदर्शी थी, दूसरी ओर वैसी ही सब प्रकार की भावप्रवणता से मुक्त थी। आत्मप्रचार उन्हें पसन्द नहीं था। उन्हें धर्मजीवन की असंख्य सूक्ष्म अनुभूतियाँ प्राप्त हुई थीं। उन्हें वे साधारणत: किसी के निकट प्रकाशित नहीं करते थे एवं अन्य किसी आदमी के साथ धर्मतत्त्व के विषय में कभी वादविवाद करना भी उन्हें अच्छा नहीं लगता था। अपने को छिपा कर, यथासंभव औरों की उत्सुक दृष्टि के अगोचर रह कर, अत्यन्त गुप्तरूप से वे महालक्ष्य की ओर अग्रसर हो रहे थे। वे जिस तरह से जीवन यापन करते थे उससे ये धार्मिक अथवा प्रत्यक्षज्ञानसम्पन्न महापुरुष हैं इस प्रकार कोई उन्हें पहिचान नहीं सकता था।

वे किसी के भी धर्ममत के विरुद्ध, यहाँ तक कि प्रसिद्ध साधु-महात्माओं के उपदेश के विरुद्ध, कभी कोई बात नहीं कहते थे। किन्तु मैं उनके साथ अत्यन्त अन्तरङ्गरूप से हिलमिल गया था, इसलिए मैं यह जानता था कि उनकी दृष्टि अति विशाल है। जगत् के प्रचलित धर्ममत अथवा धर्मसाधनाओं से उनकी तृप्ति होने की संभावना नहीं थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यदि कोई उनसे कुछ जिज्ञासा करता तो वे कहते थे, "मैं क्या जानूँ ? आप साधु महात्माओं से जिज्ञासा करें, मैं तो साधु नहीं हूँ ।"

ज्योतिजी से मैंने सुना कि उन्होंने छोटी अवस्था में ही एक महात्मा की कृपा प्राप्त की थी। यद्यपि यह वास्तविक कृपा नहीं थी तथापि लौकिक भाषा में इसे कृपा कहना ही उचित है।

श्रीहट्ट मौलवी बाजार (आसाम) में रहते समय इन महापुरुष के साथ उनका परिचय हुआ था। ये महापुरुष वहाँ के कालीमन्दिर में आकर कुछ दिनों से निवास कर रहे थे ! वे देखने में सुन्दर, युवकाकृति तथा गेरुवे वस्त्रों और वेषभूषा से संन्यासी के तुल्य थे। वे जब सुमधुर कण्ठ से प्रदोष के समय आन्तरिक भाव से भजन-संगीत गाते थे, तब उनके स्वर से आकृष्ट होकर आसपास के बहुत से लोग वहाँ उपस्थित हो जाते थे। इसलिए प्रतिदिन सन्ध्या के समय उस मन्दिर के आँगन में स्थानीय बहुत लोगों की भीड़ इकट्ठा हो जाती थी।

ज्योतिजी की अवस्था तब १२ अथवा १३ वर्ष की होगी। वे वहाँ के प्राइमरी विद्यालय में पढ़ते थे एवं अन्य लोगों के तुल्य वे भी संन्यासी की स्वरमाधुरी से आकृष्ट होकर सन्ध्या के समय मन्दिर के आँगन में आ जाते थे। वे तब अवस्था में बालक थे, इसलिए अन्यान्य अधिक अवस्थावाले लोगों के पीछे चुपचाप बैठे रहते एवं संन्यासी के भजन-गान एकाग्र मनसे सुनते थे।

वे कहते थे कि वह गाना उन्हें बहुत अच्छा लगता था— वह उनके हृदय को स्पर्श करता था। इस तरह जब तक भजन समाप्त नहीं होता था तब तक वे उस स्थान को नहीं छोड़ते थे। रात्रि के अन्धकार से चारों ओर आच्छन्न हो जाता था। उनका निवास स्थान भी मन्दिर से कुछ दूर ही था। अँधेरी रात में अकेले किस तरह घर लौटूँगा, यह विचार भी उनके मन में उठता नहीं था। वे एकटक हो संन्यासी के मुख की ओर ताके रहते थे एवं एकाग्र मन से उनके श्रीमुख से उच्चारित ध्वनि सुनते थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वे संन्यासी को पहचानते नहीं थे। पहिचान ने की बात भी नहीं थी, क्योंकि तेरह वर्ष का बालक संन्यासी का परिचय कहाँ से पायेगा ? किन्तु उनके मन में होता कि यह संन्यासी मानो उनका अत्यन्त आत्मीय जन हैं। उनको पहिचान न सकने पर भी उनके हृदय के कोने में कैसी एक धारणा उत्पन्न हुई थी कि ये उनके पूर्व परिचित और बहुत परिचित हैं।

पहले दिन भजन-समाप्ति के बाद सम्मिलित सब लोग अपने अपने घर चले गये एवं मन्दिर जनशून्य और शान्त भाव पूर्ण हो गया। तब संन्यासी बाबा ने बालक को अर्थात् ज्योतिजी को लक्ष्य कर पूछा—"बच्चे, तुम क्यों नहीं गये ?"

बालक उस कथन का कुछ उत्तर दे न सका। उसने केवल कहा, "हाँ, अभी जाता हूँ", पर जाने की चेष्टा नहीं कर रहा था।

इस के उत्तर में संन्यासी ने कहा, "बालक, तुम इस समय अपने को भूल गये हो, तुम जानते नहीं कि तुम कौन हो। कहाँ से, क्यों आये हो, यह भी भूल गये हो। इस स्थान में मेरे निकट रहना तुम्हें क्यों भला लगता है, यह भी तुम नहीं समझ सक रहे हो। किन्तु एक दिन तुम्हें समझना ही होगा। तुममें और मुझमें क्या सम्बन्ध है तुम इसे नहीं जानते हो किन्तु मैं जानता हूँ। तुम पहले जन्म की स्मृति भूल गये हो, किन्तु मैं तुम्हें भूला नहीं हूँ। इसीलिए तुम्हारे लिए मैं यहाँ आया हूँ। भजन गाना, लोगों को आकृष्ट करना, धर्म का प्रचार करना ये सब बाहरी निमित्त मात्र हैं। बच्चे, आज तुम घर चले जाओ, कल फिर आना !"

यह कह कर उन्होंने बालक को घर भेज दिया। दूसरे दिन सन्ध्या के समय बालक फिर मन्दिर के उसी आँगन में आ पहुँचा। किस के आकर्षण से वह बालक आता है यह वह नहीं जानता था। वह सोचता था कि मधुर कण्ठ और भजनों का माधुर्य्य, मालूम पड़ता है, उसे आकृष्ट करते हैं। अन्यान्य लोग उसी आकर्षण से आकृष्ट होकर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आते थे, किन्तु बालक का आकर्षण उस प्रकार का न था। आकर्षण का क्या वास्तविक कारण था उसे वह जान नहीं सकता था।

इसी तरह कई दिन आने जाने के बाद संन्यासी क्रमशः अपना परिचय देने की ओर मुड़े।

एक दिन उन्होंने ज्योतिजी से पूछा, "क्या तुम ईश्वर को मानते हो? ईश्वर है ऐसा क्या तुम विश्वास करते हो? ईश्वर को तुम किस प्रकार का पदार्थ मानते हो?" ज्योतिजी ने उत्तर में कहा, "मैं, ईश्वर है यह विश्वास अवश्य ही करता हूँ, शिव, विष्णु, काली, दुर्गा ये सब रूप ईश्वर के ही आकार हैं। सुना है उनके अनन्त रूप हैं। इन सब रूपों में प्रत्येक की ही हम लोग देवता के रूप में पूजा करते हैं। इससे अधिक ईश्वर के सम्बन्ध मेरी कोई धारणा नहीं है। क्या मेरी धारणा ठीक नहीं है?"

ज्योतिजी तब १२ या १३ वर्ष के बालक थे, उनके लिए उस अवस्था में उससे अधिक गंभीर बातें कहना सम्भव न था। हिन्दू धार्मिक परिवार के वातावरण में ईश्वर और देव-देवियों में विश्वास सहज संस्काररूप से ही रहता है। ज्योतिजी के भी वह संस्कार था। उस संस्कार के वशीभूत होकर ही उन्होंने वैसा उत्तर दिया था। वास्तव में जगत् के बड़े-बड़े पण्डित भी इस से अधिक नहीं कह सकते। उन्होंने जो कहा था एक प्रकार से वह ठीक ही कहा था।

किन्तु संन्यासी ने कहा, "तुम्हारे इस उत्तर से मुझे सन्तोष नहीं हुआ। ईश्वर तत्त्व का प्रत्यक्ष किये बिना उसके सम्बन्ध में ठीक ठीक धारणा नहीं हो सकती उसमें स्थिति तो दूर की बात है। अच्छा, मैं तुम्हें एक गुप्त रहस्य का आभास दिखाऊँगा।"

यह कह कर वे कुछ क्षणों तक निश्चल भाव से बैठे रहे। ज्योतिजी उनके समीप स्थिरता से बैठे थे। ज्योतिजी ने एकाएक देखा कि आकाश से एक ज्योतिर्मय अथवा प्रकाशमय पदार्थ ने सहसा आविर्भूत होकर उनके (ज्योतिजी के) अन्दर प्रवेश किया एवं प्रवेश कर के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वह उनकी सत्ता के साथ मानो मिल गया। उसके बाद ही उनमें एक परिवर्तन का भाव दिखाई दिया। एक अवर्णनीय आनन्द और उल्लास ने उनकी समग्र सत्ता को व्याप्त कर दिया। उनकी अपनी सत्ता—जिसका आश्रय कर वे सर्वदा अपनेमें 'मैं' का व्यवहार करते थे—मानो लुप्त हो गई।

इस व्यक्तिगत अहन्त्व के लोप के साथ साथ उनके हृदय में एक अद्भुत अनुभूति का आविर्भाव हुआ, जिसका भाषा द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता। तब जिस ओर उनकी दृष्टि पड़ी उसी ओर वे देखने लगे कि मानो मैं ही वहाँ हूँ। पशु, पत्ती, कीड़े, मकोड़े, वृक्ष, लता—जिस किसी पदार्थ की ओर उनकी दृष्टि पड़ती उसी पदार्थ को वे अपना स्वरूप समझते थे। अपने व्यक्तिगत 'मैं' के तिरोहित होने के बाद वह 'मैं' भाव जगत् की प्रत्येक वस्तु का अवलम्बन कर आत्म-प्रकाश करने लगा। तब वे देखने लगे कि एक ही 'मैं' अनन्त 'मैं' के रूप से पशु, पक्षी, लता, पत्ते आदि का आकार ग्रहण कर प्रकाशित हुआ है।

इस प्रकार अपने को अपने अनन्त भावों से देख पाने के कारण उनमें अपूर्व आनन्द के उल्लास का उफान आने लगा।

उस समय मन्दिर में एक बिल्ली आई हुई थी, संम्भवतः बिल्ली देवता के भोग के लिए रक्खे हुए दूध के आकर्षण से वहाँ आई हुई थी। बिल्ली की ओर दृष्टि डालने के साथ साथ बिल्ली ही वे हैं, अर्थात् "मैं ही बिल्ली हूँ" यह अनुभूति उनमें आविर्भूत हुई। एक क्षण के लिए उन्हें यह प्रतीत होने लगा कि ये सब अद्भुत अनुभूतियाँ संभवतः उन के मस्तिष्क के विकार से उत्पन्न हुई हैं। यह प्रतीति होने के बाद उन्होंने उस बिल्ली को पकड़ने की चेष्टा की। बिल्ली को छूने के साथ ही साथ वे फिर बिल्ली को देख न पाये उन्हें दिखाई दिया कि मानो वे ही बिल्ली हैं। तब उनका मनुष्य-देह का संस्कार कुछ समय के लिए लुप्त हो गया था—मनुष्यदेह के साथ जुटे हुए सभी भाव तब कुछ ही

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क्षणों के लिए तिरोहित हो पड़े थे एवं साथ ही साथ बिल्ली की देह की वासना और संस्कार तथा प्रकृति और प्रवृत्ति उनके अन्दर जाग उठी थी। अथवा सचमुच ही वे बिल्ली हो गये थे, केवल कल्पना से नहीं, वास्तवरूप में। बिल्ली की प्रकृति के अनुरूप संस्कार और वृत्ति उनमें जाग उठी थी अर्थात् बिल्ली को देख कर और बिल्ली को जान कर वे सचमुच बिल्ली हो गये थे।

यह अवस्था अधिक देर तक रही नहीं। कुछ क्षणों के बाद जब यह क्षणिक भाव शान्त हो गया और उन का पहले का भाव लौट आया, वे मनुष्य हैं, वे १२ वर्ष के एक बालक हैं, वे सन्ध्या समय संन्यासी के गाने से आकृष्ट हो कर मन्दिर में आये हैं, ये सब स्मृतियाँ उनके मन में भासित हो उठीं, पहले का भाव दब गया।

संन्यासी चुपचाप बैठ कर मुसकुरा रहे थे। उन्होंने ज्योतिजी से कहा, समझ सके ईश्वर दर्शन किसको कहते हैं।

ईश्वर-दर्शन के माने हैं आत्मदर्शन, सब वस्तुओं में अपने को देख पाना, अर्थात् मैं ही सब हूँ—इस भाव से सर्वत्र आत्मा के दर्शन करना, यही ईश्वर-दर्शन की सीढ़ी है। 'मैं' को अलग कर ईश्वर-सत्ता का कोई अस्तित्व नहीं है।"

ज्योतिजी को ईश्वर-दर्शन का कुछ आभास प्राप्त होने से विराट् चैतन्य की कुछ कुछ धुँधली धारणा प्राप्त हुई थी। संन्यासी जितने दिन उस मन्दिर में रहे उन दिनों प्रतिदिन ही ज्योतिजी उनके निकट जाते एवं प्रतिदिन ही संन्यासी के अनुग्रह से कुछ न कुछ अलौकिक दर्शन कर धन्य होते थे।

एक दिन संन्यासी ने उनके सूक्ष्म शरीर का आकर्षण कर उनसे कहा, "चलो, मेरे साथ चलो।" संन्यासी के इस वाक्य को सुनते ही ज्योतिजी उनका अनुसरण करने लगे। अर्थात् उनका स्थूल शरीर उस मन्दिर में पड़ा रहा और सूक्ष्म शरीर से वे आकाश-मार्ग में संन्यासी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का अनुगमन करने लगे। आकाश-मार्ग में चलते चलते पर्वतों से घिरे रमणीय स्थान में जा पहुँचे।

स्थान हिमालय का कोई गहन प्रदेश उन्हें मालूम पड़ा। एक सुन्दर मन्दिर और आश्रम उनके दृष्टिगोचर हुआ। मन्दिर में पाषाणमयी काली-मूर्ति स्थापित थी। आश्रम को पर्वतीय वातावरण के उपयोगी गुहामय एक पवित्र स्थान के रूप में वे समझ सके। निकट ही एक छोटी पर्वतीय नदी बह रही थी। स्थान एक शान्त तपोवन था,—जागतिक कोलाहल से बहुत दूर हिमालय के गुप्त प्रदेश में चित्ताकर्षक रमणीय पर्वतीय विविध दृश्यों के बीच में वह स्थित था।

उस स्थान को देखने के साथ ही साथ ज्योतिजी की पूर्वस्मृति जाग उठी। किसी समय वे ही उस स्थान में थे यह उनको स्मरण होने लगा। वहाँ का प्रत्येक स्थान उनकी स्मृति के साथ जुटा था। वे उस स्थान में किस तरह थे, कितने दिनों तक थे, संन्यासी जी ही वास्तव में कौन थे, उनके साथ इस आश्रम का और ज्योतिजी का सम्बन्ध क्या था, उस स्थान से वे क्यों च्युत हुए थे, ये सभी बृत्तान्त उनके स्मृतिपटल पर भासित होने लगे। उस साधन-जीवन में एक संन्यासी के प्रति किसी अपराध के कारण उन्हें उस अवस्था से भ्रष्ट होकर लोकालय (लोगों की वस्ती) में मनुष्य शरीर धारण करना पड़ा एवं साथी संन्यासी उनका उद्धार करने के लिए तथा उनकी पूर्वं स्मृति जगाने के लिए साथ साथ लोकालय में अवतीर्ण हुए।

काली मन्दिर में जो संन्यासी आये हैं जिनकी कृपा से उन्हें पूर्वजन्म का स्मरण हुआ है, वे ही उस जन्मान्तर के संन्यासी हैं, यह उन्हें मालूम पड़ा। उनका लोकालय में अवतीर्ण होने का प्रधान उद्देश्य ही था ज्योतिको ज्ञान प्रदान कर उनकी पूर्वजन्म की स्मृति को उभारना। संन्यासीजी को आत्मविस्मृति नहीं हुई थी किन्तु ज्योतिजी आत्मविस्मृत हो गये थे। इस अवस्था का विस्तृत विवरण देना अनावश्यक है!

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जब संन्यासी ज्योतिजी को पूर्वाश्रम के दर्शन कराकर मन्दिर में लौटा लाये, तब ज्योतिजी का सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर में प्रविष्ट हो गया एवं वे अपने सूक्ष्म शरीर से परिदृष्ट सब व्यापारों का स्मरण करने लगे।

उन्होंने देखा, युवक संन्यासी थोड़ा मुसकुरा रहे हैं, ज्योतिजी के साथ उनका क्या गुप्त संबन्ध है वह तब छिपा नहीं रहा। संन्यासीजी ने अपने मुख से कुछ वर्णन किये बिना इस प्रकार से ही उनको अपना परिचय दे दिया।

संन्यासी का कोई खास आवासस्थान नहीं था, कब वे कहाँ रहेंगे यह भी कोई नहीं जानता था। ज्योतिजी के अनेक प्रश्नों के बाद भी उस विषय में उन्होंने कोई उत्तर दिया नहीं। उन्होंने सिर्फ कहा था, "मैं चाहे कहीं रहूँ तुम्हें यह जानने की जरूरत नहीं है। किन्तु जब तुम्हें जरूरत होगी तभी तुम मेरे दर्शन पाओगे।"

उन्होंने ज्योतिजी को किसी प्रकार के आसन. मुद्रा, मन्त्र अथवा योगाभ्यास की प्रक्रिया सिखाई नहीं। उन्होंने जाते समय केवल कहा था, सत्य का अन्वेषण करो, नैतिक जीवन का उत्कर्ष बढ़ाओ, स्वयं द्रष्टा होकर रहने की चेष्टा करो एवं वास्तविक परिव्राजक के तुल्य घूम फिर कर इस विराट् विश्वरचना का सब कुछ सूक्ष्मरूप से देखने का प्रयत्न करो। तुम्हें योगाभ्यास की जरूरत होगी नहीं, जिस किसी समय तुम देह से बाहर निकलने की इच्छा करोगे, मुझे स्मरण करते ही मेरी शक्ति तुम्हारे अन्दर कार्य करेगी। तब तुम उस शक्ति के अबलम्बन से लोकलोकान्तर में भ्रमण करने में समर्थ होओगे तथा इच्छानुरूप ज्ञान का विभिन्न स्थानों से संग्रह कर सकोगे।"

यही ज्योतिजी के साथ संन्यासी बाबा के प्रथम दर्शन का संक्षिप्त विवरण है।

मौलवी बाजार की उस घटना के बाद ही ज्योतिजी के मन में और जीवन में एक परिवर्तन दिखाई देने लगा। वे यद्यपि अवस्था में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नूतन (बालक) थे फिर भी पूर्वोक्त महापुरुष की कृपा से स्थूल देह का त्याग कर सूक्ष्म देह से लोकलोकान्तर में संचरण करने की क्षमता तब उन्हें प्राप्त थी। यद्यपि वे बाहरी जगत् में अपनी इस अलौकिक शक्ति को प्रकट नहीं करते थे तथापि कुछ दिनों में वह प्रकट हो पड़ी थी। कारण, इस तरह की क्षमता अधिक दिनों तक गुप्त नहीं रह सकती। दिन में अथवा रात्रि में अवसर पाते ही अथवा मन में कुछ जानने के लिए उत्सुकता उत्पन्न होते ही सूक्ष्म देह से उनका घूमना फिरना चलता था एवं इस प्रकार वे सृष्टि के रहस्य के सम्बन्ध में नया-नया ज्ञान अर्जन करते रहते थे।

लोगों की दृष्टि की आड़ में उनका अधिकांश समय इसी तरह व्यतीत होता था, किन्तु यह औत्सुक्य-निवृत्ति और लोकलोकान्तर के नाना प्रकार के ज्ञानों का अर्जन होने पर भी उनके चित्त में तृप्ति न थी। जिस आत्मदर्शन और भगवद्दर्शन का आभास संन्यासी की कृपा से उन्हें एक बार प्राप्त हो चुका था उसे पूर्णरूप से आयत्त करने के लिए उनका चित्त रात दिन व्याकुल रहता था। लोकलोकान्तर में संचरण अथवा उसी प्रकार की विविध शक्तियों का विकास आत्म-दर्शन की तुलना में तुच्छ, यहाँ तक कि अतितुच्छ, उन्हें मालूम पड़ने लगा।

अपने प्रयत्न से स्वाधीनरूप में पूर्ण आत्म-दर्शन प्राप्त किये बिना मानव-जीवन सफलता से वञ्चित रहता है, यह उनके हृदय कि सुदृढ़ धारणा थी। इसीलिए बाल्य अवस्था में ही, जब उनकी अवस्था १५ अथवा १६ वर्ष की होगी, उन्होंने संन्यास ग्रहण कर अपने स्वजन और गृह आदि सम्पूर्ण सर्वस्व का सदा के लिए परित्याग कर बाहर निकलने का संकल्प किया था। उनकी धारणा हुई थी कि सर्वस्व त्याग कर संन्यास ग्रहण किये बिना निश्चिन्तरूप से भगवत्साधना करने का अवसर प्राप्त नहीं होता एवं साधना के बिना स्थायी भगवद्-दर्शन प्राप्त करने की भी कोई संभावना नहीं है।

एक अत्यन्त लुभावनी वस्तु के लिए वे हृदय के अन्तस्तल में छट पटा रहे थे। इस गुप्त वस्तु का आभास उन्हें महापुरुष की कृपा से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निस्सन्देह प्राप्त हो चुका था, किन्तु वह क्षणिक आभासमात्र था। जिससे स्थायीरूप से इस बहुमूल्य रत्न का संग्रह कर सकें उसके लिए तब वे अत्यन्त उद्विग्न और उत्कण्ठित चित्त से दिन व्यतीत करते थे। जगत् की कोई भी भोग्य वस्तु उनको आकृष्ट नहीं कर सकती थी, वे सदा नशा खोर की तरह नशे की अवस्था में किसी एक अचिन्त्य पदार्थ के चिन्तन में विभोर रहते थे।

उस समय उनका मस्तिष्क विकृत हो गया है एवं अध्ययन-मार्ग में उन्नति प्राप्त करना उनके लिए अब सम्भव नहीं है इस प्रकार की धारणा के वशीभूत हो कर सबने ज्योतिजी को उनके पैत्रिक वास-भूमि में भेज दिया था।

मकान में लौट आकर वे फिर विद्यालय में प्रविष्ट हुए एवं नियमा-नुसार पढ़ना सुनना आरम्भ किया। किन्तु यह केवल बाहर का व्यापार था—मन तब भी उस गुप्त वस्तु के अनुसन्धान में ही लगा रहता था।

उनके मकान के निकट ही एक प्राचीन श्मशान था। उसके बगल में एक टूटा-फूटा मन्दिर था। ज्योतिजी ने उस मन्दिर को साफ कर उसे रहने के उपयोगी बना लिया एवं वहीं अधिकांश समय बैठ कर सूक्ष्म देह से विश्व ब्रह्माण्ड के चारों ओर पहले की तरह घूमने फिरने लगे।

बहुत स्थानों में बहुत तरह के अद्भुत व्यापार उन्होंने देखे,—नाना प्रकार के देवता, सिद्ध पुरुष, दिव्य वन और उपवन, ज्योतिर्मय धाम, बहुत कुछ वे क्रमशः देखने लगे।

साधारण पुरुष उनमें से जिस किसी एक को देखने पर ही विमुग्ध हो पड़ता, किन्तु जिस प्राण की वस्तु को ज्योतिजी व्याकुल हृदय से खोज रहे थे उसे समग्र विश्व में, चप्पे चप्पे में, खोज कर कहीं भी न पाने से वे बिलकुल ही तृप्त नहीं हो सके।

इस प्रकार कुछ दिन बिताने के बाद, उन्होंने अपने एक सम-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वयस्क मित्र के साथ परामर्श कर निश्चय किया कि वे सचमुच ही संन्यास ग्रहण कर व्याकुल हृदय से देश-विदेश में पर्यटन करेंगे।

हृदय में शान्ति न रहने से ही इस प्रकार की आकांक्षा उनके अन्तस्तल में जागी थी। बालक का गुप्त परामर्श कुछ दिनों में कार्यरूप में परिणत हुआ। ज्योतिजी का मित्र घर से बाहर निकल पड़ा एवं जाते समय ज्योतिजी से कह गया, "भाई, तारकेश्वर की बड़ी महिमा बहुत लोगों के मुँह से मैंने सुनी है। सुना है कि वे प्रत्यक्ष देवता हैं। मैं पहले तारकेश्वर जाऊँगा। वहाँ तारकेश्वर की कृपा से यदि किसी महात्मा का संग प्राप्त हो सका तो उनसे यथार्थ संन्यास-मार्ग का निर्देश लेकर उन्हीं के साथ देश-भ्रमण करने बाहर निकलूँगा। मैं वहाँ पहुँच कर पत्र द्वारा तुम को खबर दूँगा एवं तुम मेरा पत्र पाते ही घर से रवाना होना और तारकेश्वर में मुझसे मिलना।"

शैशव की सरलता से अपने मन की इच्छा के अनुसार मनुष्य जगत् को सजाता है। तारकेश्वर का नाम सुन कर ज्योतिजी के मन में उस स्थान के प्रति एक आकर्षण उत्पन्न हुआ। वे कल्पनानेत्र से देखने लगे कि उस पुण्य स्थान में स्वयं शङ्कर नित्य भक्तमण्डली से परिवेष्टित होकर दुःखी जीवों के ऊपर भाँति-भाँति की कृपा-वृष्टि कर रहे हैं। मनुष्यमात्र को ही शान्ति का राज्य दिखाने के लिए अपार करुणा के साथ वे वहाँ नित्य बैठे हैं। क्योंकि उन्होंने सुना था कि तारकेश्वर के निकट जो भक्त जो प्रार्थना करता है उसी को वह पा जाता है। ज्योतिजी ने मन ही मन विचार किया, उन की आन्तरिक प्रार्थना ही फिर क्यों अपूर्ण रहेगी।

उस अवस्था में ज्योतिजी ने कोई शहर देखा नहीं था। जिस जगह वे रहते थे वहाँ से बड़े शहर की कल्पना करना संभव न था। उन दिनों में वह जगह कोई विशेष समृद्ध नहीं थी। उनके मकान के सामने एक नदी कल-कल ध्वनि करते निरन्तर बहती थी। निकट ही में नील पर्वतश्रेणी ऊँचे मस्तक उठाकर कलङ्क रेखा की तरह कहीं जा कर मानों मिल गई हो ऐसा मालूम होता था। जिधर दृष्टि डाली

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाती उधर ही परमेश्वर की परम सुन्दर सृष्टि की महिमा देख कर मस्तक अवनत हो जाता था। मनुष्य इस स्थान में बालक की तरह अपने अपने निर्दिष्ट मार्ग पर चलता घूमता था।

ज्योतिजी सोचने लगे, तारकेश्वर वहाँ से भी सुन्दर, एक अपूर्व स्वर्ग-राज्य के तुल्य होगा।

यथासमय उनके मित्र ने पत्र लिख कर उनसे अविलम्ब तारकेश्वर जाने का अनुरोध किया। पत्र का आशय यह था कि ज्योतिजी के वहाँ जाने पर दो मित्र आपस में सलाह कर कर्तव्य निर्णय करेंगे।

इस पत्र को पाकर ज्योतिजी के मन में अपूर्व आनन्द का स्वप्न भासित होने लगा। वे किसी आत्मीय व्यक्ति से बारह रुपये ले कर एक मृगचर्म, एक भगवद्गीता और धोती कुर्ता, शरीर पर ओढ़ने की चादर आदि लेकर रवना हुए। घर से रवना हो कर रात ७ बजे एक छोटी नाव से रेलवे स्टेशन जा पहुँचे, तदनतर डाकगाड़ी से रात्रि कुछ शेष रहते चाँदपुर पहुँच गये।

स्टेशन में बिजली की बत्ती आदि और स्टीमर में चढ़ते समय लोगों की भीड़-भाड़ और कोलाहल देख कर उनके मन में होने लगा कि आत्मीय जनों को छोड़ कर कहाँ किस निरुद्देश यात्रा का यात्री होकर मैं रवाना हुआ हूँ। मन उदास हो पड़ा। उसके बाद मध्यवर्ती सब स्थानों को लांघ कर कलकत्ता पहुँचे, क्योंकि उन्होंने कलकत्ता होकर तारकेश्वर जाने की व्यवस्था की थी।

बालक कलकत्ता ऐसा विराट् नगर देख कर चकित और स्तम्भित हो गया, किन्तु उनके हृदय में जो आकुल वेदना घनीभूत होकर उन्हें पीड़ित कर रही थी उसके प्रभाव से कलकत्ता का कोई भी दृश्य उनके चित्त में दूसरा भाव उपस्थित न कर सका। हावड़ा स्टेशन में वे बहुत ही अधिक विपत्ति में पड़ गये थे।

अस्तु, सब विपत्ति-आपत्तियों को झेल कर वे यथा समय तारकेश्वर पहुँचे। एवं वहाँ जाकर अपने मित्र की खोज करने लगे। जिस मकान में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उनके सङ्गी का पता मिलने की बात थी वहाँ उन्हें न पाने से ज्योतिजी निराश्रय हो कर लक्ष्यहीन अवस्था में मार्ग में इधर उधर भटकने लगे। तब सहसा एक पण्डे के साथ उनकी भेंट हुई एवं पण्डा उन्हें अपने मकान में ले गया और बाबा तारकेश्वर के भोग इत्यादि की व्यवस्था करने लगा।

भोग में सवा रुपया लगेगा एवं निकट में ही होटल है वहाँ खाने के खर्च के बापत तीन आने लगेंगे,—यह सब विवरण देने के बाद पण्डाजी घर के अन्दर चले गये एवं भीतर से एक वृद्धा स्त्री ने आकर ज्योतिजी को स्नान का घाट आदि दिखा दिया। वहाँ स्नान-सन्ध्या कर ज्योतिजी ने पण्डाजी के साथ यथाक्रम बाबा तारकेश्वर के मन्दिर में प्रवेश किया।

उस समय ज्योतिजी के मन की जो अवस्था थी उसका भाषा द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता, उस समय भी अपने संगी को न पाकर सचमुच वे विह्वल हो उठे थे, क्योंकि उनमें लौकिक अभिज्ञता कुछ भी नहीं थी। तब एकमात्र ईश्वर पर निर्भर होने के सिवा दूसरा कोई चारा नहीं था।

तारकेश्वर मन्दिर में प्रवेश कर ज्योतिजी तारकेश्वर की मूर्ति नहीं देख पाये—उन्होंने देखा बनारसी साड़ी पहने एक महिला पाषाण-मूर्ति को ढक कर बैठी हैं, उनसे थोड़ी दूर पर मन्दिर के एक भाग में छाया के तुल्य शिवजी की मूर्ति बैठी है। यह दर्शन प्रायः २।३ मिनट तक उन्हें हुआ।

इसके बाद वे जहाँ खड़े थे वहीं आखें मूँद कर बैठ गये। क्योंकि अनाहार, अनिद्रा और मन की अवसन्नतावश जल्दी-जल्दी चलने की शक्ति उनमें नहीं रह गई थी। इधर पण्डाजी बड़ी जल्दी कर रहे थे। ज्योतिजी ने हाथ में स्थित दूध, पुष्प और बिल्वदल नियमानुसार शिवजी के ऊपर डाल दिये। किन्तु उस समय उनकी दृष्टि के सामने पूर्वोक्त दृश्य फिर नहीं रहा। ज्योतिजी पण्डाजी के साथ जल्दी-जल्दी उनके मकान में चले आये।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ये जो सजीव भगवती-मूर्ति के अथवा शिवमूर्ति के दर्शन हुए इस सम्बन्ध में प्रसंगतः प्रश्न करने पर उन्होंने कहा था कि इन सब दर्शनों का कोई मूल्य नहीं है। वे इनको मन का भ्रम अथवा मस्तिष्क का विकार मानते हैं। इस प्रकार के दर्शनों से जीवात्मा का कोई लाभ नहीं होता। वे कहते हैं जहाँ साधक का व्यक्तित्व नहीं रहता, जहाँ उसका अहन्त्वबोध दूसरे के ऊपर निर्भर करता है और जहाँ विवेक निष्क्रिय अवस्था में रहता है वहाँ जानना होगा कि यह मन का भ्रम अथवा मस्तिष्क का विकार है।

ज्योतिजी तारकेश्वर में अत्यन्त विपन्नावस्था में पड़कर एकवारगी हतबुद्धि हो गये थे। अस्तु, वहाँ का तीर्थ-कृत्य समाप्त कर वे स्टेशन की ओर धीरे-धीरे अग्रसर हुए। कहाँ जायंगे इसका निश्चय नहीं था। स्टेशन में जाकर महापुरुषप्रदत्त अपनी शक्ति के द्वारा सूक्ष्म देह की सहायता से वे जान पाये कि उनके वे मित्र तारकेश्वर से त्रिवेणी नामक स्थान में चले गये हैं। यह जान कर उन्होंने स्वयं भी त्रिवेणी जाने और वहाँ उनसे भेंट करने का संकल्प किया।

त्रिवेणी गङ्गा के तट पर हुगली जिले में एक छोटा स्टेशन है। मगरा से एक लाइन त्रिवेणी गई है एवं तारकेश्वर से भी एक छोटी लाइन वहाँ गई है। ज्योतिजी तब त्रिवेणी का टिकट कटा कर रात में लगभग १२ बजे वहाँ पहुँचे।

गाड़ी से उतर कर एक सज्जन के साथ बातचीत और परिचय होने से उन्हें मालूम हुआ कि वे तीर्थयात्रा के सिलसिले में गङ्गास्नान के लिए वहाँ आये हैं एवं कुछ समय वहाँ रहेंगे। तब उन्होंने उस भद्र पुरुष को साथ लेकर स्थानीय एक गृहस्थ के घर में रात्रि व्यतीत करने का निश्चय किया। दोनों पुरुषों ने रात रहने के लिए दो पैसे भाड़े के रूप में देकर दो खटिया लीं, अवशिष्ट रात किसी प्रकार उन खटियों पर विश्राम कर बिताई।

इधर उधर से खबर लेकर वे जान पाये कि वे जिस मित्र के साथ भेंट करने के लिए त्रिवेणी आये हैं वे त्रिवेणी आये थे सही, किन्तु अब

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वहाँ नहीं हैं । वे संन्यासग्रहण का संकल्प त्यागकर कलकत्ता किसी आत्मीय के समीप चले गये हैं। ज्योतिजी उस समय निर्धन, निराश्रय तथा दिशा और विदिशाओं के ज्ञान से शून्य हो पड़े । कोई दूसरा उपाय न देखकर आगे क्या करूँगा एकमात्र यही विचार करते करते उन्होंने सारा दिन व्यतीत किया । दोनों समय दो पैसे की फरवी खाकर गङ्गा-जल से पेट भर कर खटिया पर सोये सोये समय काटा ।

कलकत्ता और तारकेश्वर आदि स्थानों से त्रिवेणी तीर्थ उन्हें अधिक अच्छा लगा । केवल त्रिधारा का संगम होने से उस स्थान ने उन्हें आकृष्ट किया हो सो बात नहीं थी, उस स्थान के प्राकृतिक सौन्दर्य ने सचमुच तब उन्हें आकृष्ट किया था, पर उस ओर उतना ध्यान देने का अवसर तब उनको नहीं था। स्थान अपेक्षाकृत निर्जन था। गाड़ी, घोड़े आदि के गमनागमन का शब्द नहीं था, लोगों की भीड़-भाड़ रहने पर भी कोलाहल एकदम नहीं था। सभी गङ्गास्नान कर चुप-चाप अपने अपने स्थानों को चले जा रहे थे । इस प्रकार के शान्तिपूर्ण स्थानमें ऐसी निराश्रय अवस्था में भी उन्हें बहुत कुछ शान्ति मालूम पड़ी थी ।

ज्योतिजी कहते हैं कि अपनी उस समय की अवस्था भाषा द्वारा समझाने की क्षमता मुझमें नहीं है । वे कहते हैं, संन्यास शब्द का यदि कोई निगूढ़ तात्पर्य है तो वह उस समय उनके हृदय में भासित हुआ था । गीता में सब धर्मों का परित्याग कर एकमात्र भगवान् के शरणा-गत होने का उपदेश दिया गया है, उसका वास्तविक रहस्य क्या है यह उन्हें उस समय मर्म मर्म में ज्ञात हो सका था। उनकी उस समय की हृदयावस्था वास्तव में अव्यक्त थी।

दो दिन और दो रातें फरवी और गङ्गाजल ग्रहण कर त्रिवेणी के घाट पर प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच उन्होंने बिता दीं । साथी सज्जन केवल एक दिन उनके साथ रहे, उसके बाद ही चले गये थे। इसलिए उनके जाने के पश्चात् ज्योति जी दिनभर अकेले अपने विचार में डूबे रहते थे ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तीसरे दिन रात्रिशेष में अरुणोदय के कुछ पहले क्षुधा की ज्वाला और मानसिक वेदना से वे चुपचाप खटिया पर लेटे लेटे सूर्योदय की प्रतीक्षा कर रहे थे, इसी समय एकाएक उन्हें सुनाई पड़ा कि एक स्त्री आकर उनका नाम लेकर पुकार रही है। इतने समय तक आँखें मूँद विचार कर रहे थे, किन्तु उस पुकार को सुन कर उन्होंने आँखें खोलीं। गौर से देखा, स्त्री के पहनावे में एक लाल किनारे की साड़ी थी और उनके हाथ में एक सोने का थाल था। उनकी आकृति दिव्य लावण्य-मयी थी, मालूम पड़ रहा था कि शरीर से आलोक ने बाहर निकल कर स्थान को आलोकित कर डाला है। ज्योतिजी ने एक बार आँखें खोलते ही आँखें मूँद लीं। ज्योति की झलक स्निग्ध होने पर भी इतनी तीव्र थी कि उन्हे दूसरी बार आँखें खोलकर देखने की क्षमता रही नहीं। उस समय उन्होंने केवल आँखें ही मूँद ली थीं सो बात नहीं, दोनों हाथों से जोर से अपने दोनों नेत्र भी ढक लिये थे।

इस प्रकार नेत्र मूँद कर ही वे उन महिला के साथ बातें करने लगे। ज्योतिजी को अनुभव हुआ कि उनके नेत्र बन्द करने पर भी मानो प्रकाश उनके अपने अन्दर से बाहर निकल आ रहा है।

महिला ने ज्योतिजी को पुकार कर स्नेहपूर्ण स्वर में कहा था, "गङ्गास्नान करोगे नहीं ? देर हो रही है।"

ज्योतिजी हाथ की अंगुलियों के अवकाश से थोड़ा थोड़ा नेत्र खोल कर देख पाये कि महिला थाल में फूल चुन रही हैं। उस जगह एक ताड़ के पेड़ के चारों ओर कईएक विविध प्रकार के फूलों के पेड़ और तुलसी के पेड़ थे। उन सब पेड़ों से वे फूल और तुलसी चुन कर थाल में रख रही थीं।

उसके बाद वे फिर ज्योतिजी से बोलीं—"चलो, गङ्गा-स्नान करोगे नहीं ?"

ज्योतिजी ने कहा, "हम लोगों के देश में गङ्गा-स्नान करना हो तो तिल, हर्रे, धूप इत्यादि की आवश्यकता होती है।"

उनके यह कहते ही ज्योतिजी देख पाये कि महिला के थाल में तिल, हर्रे, धूप और दीपक है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उन्होंने मन्द मन्द हँसते हँसते ज्योतिजी से कहा, "तुम यहाँ क्यों आये हो ? मैं सब के भीतर हूँ।"

उस समय ज्योतिजी अपने भीतर में एक अत्यन्त मधुर शब्द सुन रहे थे। वह किस प्रकार का शब्द था, यह वर्णन द्वारा समझाया नहीं जा सकता। पर वह वीणा और वंशी की मिश्रित ध्वनि के तुल्य मालूम पड़ा, ऐसा कहा जा सकता है।

महिला ने ज्योतिजी से एक बार मुँह खोलने को कहा, मुँह खोलते ही ज्योतिजी को सुनाई दिया कि उनके मुख और कान के भीतर से वह शब्द निकल रहा है। महिला ने कहा, "मैं उस शब्द के पीछे ज्योतिर्मय आलोकरूप हूँ एवं आलोक के पीछे सर्वदर्शी सर्वसाक्षी के रूप में विश्वब्रह्माण्ड में व्याप्त हुई हूँ"।—यह कह कर वे धीरे धीरे गङ्गाजी की ओर बढ़ने लगीं एवं ज्योतिजी मन्त्रमुग्ध के तुल्य शय्या से उठ कर उनके पीछे पीछे चलने लगे।

गङ्गा के ऊपर स्नान-घाट के समीप में एक श्मशान था, दोनों ही वहाँ गये। वहाँ जाने के बाद ज्योतिजी उनके आदेशानुसार घुटने टेक कर उनके चरणों के निकट बैठे, तब महिला उनके मस्तक पर अपना दाहिना हाथ रख कर खड़ी हुई और बोलीं,, "घर चले जाओ। मैं तुम्हारे घर में तुम्हारे मन्दिर में रहूँगी। तुम्हारी जन्मदात्री माँ तुम्हारे वियोग में पागल की भाँति छटापटा रही है।"

उनके यह कहने के साथ ही साथ ज्योतिजी वहीं से मानो अपनी माँ को स्पष्टरूप से प्रत्यक्ष देख पाये। ज्योतिजी ने तब कहा, "मैं काशी जाऊँगा।"

महिला ने कहा, "काशी जाने से क्या होगा ? तुम्हारे कितने ही आत्मीय जन (उन्होंने दो एक व्यक्ति का नाम भी बतलाया) वहाँ गये थे, उनको क्या कुछ लाभ हुआ है ?" यह कह कर वह अदृश्य हो गईं।

उनके अन्तर्धान होने के कुछ क्षणों के बाद ज्योतिजी धीरे धीरे उतर कर स्नान-घाट की सीढ़ी पर बैठे। जैसे बिछुड़ा हुआ बछड़ा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपनी माँ को खोजता घूमता है वैसे ही ज्योतिजी भी तब कुछ क्षण बैठे रहने के बाद पागल की तरह इधर उधर घूमने फिरने लगे। रात्रि तब भी पूरी तरह शेष नहीं हुई थी। ज्योतिजी इसके बाद कई घण्टे घूम फिर कर मध्याह्न में डेरे पर लौट गये एवं वहाँ खटिया पर लेटे लेटे उस अद्‌भुत घटना के विषय में सोचने लगे। भूख प्यास तब उनकी लुप्त हो गई थी।

ज्योतिजी बतलाते थे कि उन्होंने जिनके दर्शन किये थे वे साक्षात् पूर्ण ब्रह्ममयी थीं। प्रेम की पूर्णता एकमात्र उन्हींमें प्रकट होती है। उन्होंने विवेकयुक्त अवस्था में अत्यन्त स्पष्टरूप से उनका प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त किया था।

जिस गृहस्थ के मकान में ज्योतिजी रहते थे वहाँ से कुछ दूर पर एक ग्वाले का घर था। ग्वाले की स्त्री ने आकर बड़ी उत्सुकताके साथ ज्योतिजी से पूछा "बाबा, तुम दो तीन दिनों से यहाँ हो, मैं देख रही हूं तुम कुछ खाते नहीं, क्यों नहीं खाते यह मैं नहीं जानती। तुम्हें तृप्तिपूर्वक भोजन कराने की मुझे अत्यन्त आकांक्षा हो रही है। तुम खाओगे न ?"

ज्योतिजी राजी हो गये। इसके कुछ क्षण बाद उस स्त्री ने नाना प्रकार की खाद्य वस्तुएँ तैयार कर ज्योतिजी के खाने की व्यवस्था कर दी। खाने के बाद अपने जीवन की अवस्था की बात सोचते सोचते वे सो पड़े।

इसके बाद ही वे अपने घर लौट गये।

ज्योतिजी ने अपने प्रबल भाग्य के प्रभाव से क्षेत्र त्रिवेणी में जो दर्शन लाभ किया था वही आत्मा का अथवा पूर्णब्रह्मस्वरूप जगज्जननी का दर्शन है। वह सत्य दर्शन था, क्योंकि उसमें भूलभ्रान्ति कुछ भी नहीं थी। अन्तर स्थित शब्द के पीछे जो रूपराशि विराजमान रहती है वही आत्मा या पूर्ण ब्रह्म का स्वरूप समानरूप से सगुण और निर्गुण अथवा सकल और निष्कल दोनों ही है। दर्शन के समय ज्योतिजी निजबोध से च्युत नहीं हुए थे, यहाँ तक की विवेकभ्रष्ट भी नहीं हुए थे। सबके साथ जैसे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बात-चीत करते हैं वैसे ही बातचीत उनके साथ भी उन्होंने की थी। वास्तव में वह दर्शन मन के अतीत वस्तु का दर्शन था। उसका अवलम्बन कर मन कल्पना-जाल की सृष्टि नहीं कर सकता। किन्तु ज्योतिजी कहते थे कि वह यद्यपि सत्य था, वैसे ही मन और मस्तिष्क का विकार भी न था, उसकेद्वारा मनुष्य के अनिर्वचनीय लोभकी वस्तु मनके सामने उपस्थित हुई थी, किन्तु स्थायी रूप से यदि उसे प्राप्त होना हो और अपना बना लेना हो तो विवेकपूर्वक नैतिक जीवन के माध्यम से साधन पथ पर अग्रसर होना आवश्यक है। केवल उस प्रकार के दर्शन से जीवन कृतार्थं नहीं होता। उसके लिए विश्व-कर्ता की कृपा अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि कृपा के बिना पूर्णत्व के पथ पर कुछ भी लाभ करने की संभावना नहीं है। सत्य दर्शन होने पर भी जिसके द्वारा जीवन का वास्तविक रूपान्तर न हो वह चरम दर्शन नहीं है। अन्न जैसे अग्नि के के सम्पर्क में रहने पर अन्न ही रहता है किन्तु अग्नि से दूर हट जाने पर उसका पूर्व स्वरूप तण्डुलावस्था प्राप्त होने की चेष्टा करती है, मनुष्य के जीवन में भी ठीक वही प्रकार घटता है। जीवन के पथ पर इन दृष्टान्तों की सार्थकता बहुत अधिक है इसमें सन्देह नहीं। किन्तु विश्वकर्ता की दया यदि प्राप्त करनी हो तो वह पर्याप्त नहीं है। उसके लिए अभ्यासयोग का अवलम्बन कर विवेक और विचार के साथ कर्तव्यपथ पर अग्रसर होना चाहिये। इसके लिए जागतिक साधन-क्रम का मूल्य भी कम नहीं है।

कोई कोई सोच सकते है कि एक बार दर्शन होने पर ही, विवेक यदि लुप्त न हो तो, दर्शनीय वस्तु को पकड़े रहना असंभव नहीं है। ध्रुव, प्रह्लाद आदि प्रसिद्ध भक्त भगवान् का दर्शन पाकर उसे स्थायी-रूप से धारण करने में समर्थ हुए थे। ज्योतिजी समझते हैं, यह भ्रान्त धारणा है। वह वस्तु स्थूल जगत् की वस्तु के तुल्य चिपका कर रखने की वस्तु नहीं है कि उससे तृप्तिलाभ हो। स्तव, स्तुति के द्वारा भी उन्हें प्रसन्न नहीं किया जा सकता। ध्रुव, प्रह्लाद आदि भक्तों की बात दूसरी है। उन लोगों का व्यापार कारणजगत् का खेल है, यह सर्वथा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सत्य है। वहाँ भक्त और भगवान् का ऐसा एक नित्य सम्बन्ध-स्थापन किया जाता है, एवं अनेक भक्त वैसा करते भी हैं। ईश्वर अन्तहीन चैतन्य है, इसलिए उनके साथ भक्त अपने भाव के अनुसार जिस किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापन कर व्यवहार कर सकते हैं। उस अवस्था में आनन्द और आत्मा की स्वाधीनता बहुत कुछ रहती है, यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु ज्योतिजी ध्रुव या प्रह्लाद के आदर्श को अपने जीवन का आदर्श नहीं मानते थे। क्योंकि वे देख पाते थे कि उस अवस्था में भी समान समान पूर्णता प्राप्त नहीं होती। महात्मा उन्हें जिस पथ पर चला रहे थे एवं जिस तरह से उनकी सत्ता का गठन कर रहे थे उसमें ध्रुव, प्रह्लाद होने की वासना कभी भी उनके हृदय में जागी नहीं। बाल्यावस्था से ही उन्होंने शिक्षा पाई थी कि यदि मन की दृढ़ता के बल से विराट चैतन्य द्वारा इच्छानुरूप सृष्टि का विकास न किया जा सके, तो मनुष्य जीवन की सार्थकता अन्य किसी उपाय से सम्पन्न होने की आशा नहीं है। यदि ईश्वर होना हो तो ईश्वर-दर्शन की आवश्यकता नहीं हैं, यह वह खूब जानते थे। तब पूर्ण में स्थित हो कर पूर्णत्व-प्राप्ति होती है, पूर्ण बोध जागता है एवं चैतन्य स्वरूप में स्थिति होती है। अस्तु, त्रिवेणी की घटना पूर्ण सत्य को पूर्णभाव से प्राप्त होने के मार्ग में उनके जीवन की एक बृहत्तम स्मरणीय घटना थी, यह वे मानते थे।

फिर एक दिन वार्तालाप के सिलसिले में दूसरी एक घटना के विषय में उन्होंने वर्णन किया था—यह १९१७ ई० की बात है। इस वर्ष ज्योतिजी पहले-पहल काशी आये थे। काशी तब उनके लिए अपरिचित थी। वे अपने परिचित किसी मित्र से एक पत्र लेकर काशी आ पहुँचे। पत्र उनके मित्र ने अपने एक निकट सम्बन्धी को लिखा था जो तब अगस्त्यकुण्ड मुहल्ले में एक स्वतन्त्र मकान में रहते थे। पत्र लेकर उस घर में उपस्थित होकर उन्होंने गृहस्वामी के साथ भेंट करने की इच्छा प्रकट की; किन्तु गृहस्वामी के उपस्थित न रहने से उनकी कन्या ने उनके नाम का पत्र लिया और ज्योतिजी से अत्यन्त आदर के साथ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उनके लिए एक अलग कमरा, तीसरी मञ्जिल में व्यवस्था कर, दे दिया गया था। ज्योतिजी विस्तर और कपड़े आदि उस कमरे में यथा-स्थान रख कर थकान दूर करने के लिए उसी कमरे में एक चटाई पर लेट गये। कुछ देर तक भगवान् श्रीविश्वनाथ और भगवती अन्नपूर्णा देवी का ध्यान उनके मन में प्रबल भाव से उदित हुआ था। भक्त और साधक के भावानुसार एक ही चैतन्य नाना स्थानों में और नाना रूपों में प्रकट होता है, ऐसा वह सोच रहे थे। वे मुक्तिक्षेत्र काशी के सम्बन्ध में तथा ज्ञान और कर्म के परस्पर सम्बन्ध के विषय में मन ही मन बहुत विचार कर रहे थे एवं साथ ही साथ अव्यक्त रूप से कुछ-कुछ प्रार्थना भी नहीं कर रहे हों सो बात नहीं थी। जगज्जननी, आप काशी की अधीश्वरी हैं, आप का ही एक छोटा बच्चा आपके राज्य में आ उपस्थित हुआ है।

इसी समय उन्हें दीख पड़ा कि गोद में एक बच्चे को लेकर एक महिला नीचे की मंजिल से सीढ़ी चढ़कर तीसरी मंजिल में उनके कमरे में आकर खड़ी हुई; खड़ी होकर ज्योतिजी से बोली, "बाबा जी तुम जो सोच रहे हो वह सब ठीक है, भगवान् सर्वत्र ही हैं, भक्त लोग उन्हें नाना स्थानों में नाना भावों में प्रकट करते हैं।"

इसी समय एक महिला ने आकर ज्योतिजी से स्नान आदि कर भोजन करने का अनुरोध किया। वह इसी घर की एक महिला थी। जो महिला बच्चे को गोद में लेकर पहले आई थीं वे दूसरी स्त्री के उस कमरे में प्रविष्ट होने के पूर्व ही उतर कर चली गई थीं। दूसरी महिला उन्हें देख नहीं पाई, यद्यपि जिस सीढ़ी से वे चढ़ीं उसी सीढ़ी से वे उतरी थीं।

ज्योतिजी को तब मालूम हुआ कि प्रथम महिला पूर्ण ब्रह्ममयी स्वयं अन्नपूर्णा के सिवा दूसरी कोई नहीं थी। वे और भी गौर करके आश्चर्यान्वित हुए कि जिस शिशु को प्रथम महिला गोद में लेकर ऊपर चढ़ी थीं वह ज्योतिजी का ही निज स्वरूप था। ज्योतिजी की देह के सम्पूर्ण लक्षण और वैशिष्ट्य उस शिशु की देह में विद्यमान थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक दिन ध्रुव और प्रह्लाद की साधनप्रणाली और सिद्धि के सम्बन्ध में ज्योतिजी के साथ हमारी आलोचना चल रही थी। इस सम्बन्ध में उनका प्रत्यक्ष अनुभव कुछ है या नहीं, यह जानना ही हमारा उद्देश्य था। ज्योतिजी बोले, ध्रुव के सम्बन्ध में मेरा विशेष अनुभव है। बहुत दिन पहले मेरे उपदेशक महात्माने ध्रुवके साधनतत्त्व के सम्बन्ध में ज्ञान-लाभ के मार्ग में मेरी यथेष्ट सहायता की थी। महात्मा लोग काल्पनिक जगत् की रचना कर, आवश्यकता पड़ने पर, अपने भक्त जिज्ञासु शिष्य को प्रत्यक्ष दिखाकर निर्दिष्ट तत्त्व के सम्बन्ध में समझा सकते हैं। एक दिन महात्माजी की कृपा से ज्ञात हुआ कि मैं ध्रुवलोक में उपस्थित हुआ हूँ, तब ध्रुव भक्त-मण्डलीसे परिवेष्टित हो बीच में स्थित आसन पर बैठकर जिज्ञासुओं को उपदेश दे रहे थे।

वे कह रहे थे किस प्रकार कितनी कठोर तपस्या से मैंने बाल्यावस्था में ही कमलदलनयन श्रीहरि के प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त किये थे। ध्रुव जिस समय अपने पूर्व जीवन की साधना के इतिहास की रचना कर रहे थे उस समय ज्योतिजी केवल उनका वर्णन सुन रहे थे सो बात नहीं—साथ ही साथ वर्णना के विषयभूत दृश्यों का भी प्रत्यक्ष दर्शन कर रहे थे। शुद्ध स्तर में शब्द की ऐसी महिमा है कि उसके उच्चारण के साथ प्रतिपाद्य अर्थ भी सामने आविर्भूत हो जाता है। ज्योतिजी को प्रत्यक्ष दिखाई दिया कि बालक ध्रुव व्याकुलता के साथ भूख-प्यास भूलकर एकलक्ष्य और एकाग्रहृदय होकर वन-वन में भ्रमण कर रहा है। और भी उन्होंने देखा कि कभी-कभी वे किसी विशिष्ट स्थानपर बैठकर श्रीहरि को पुकार रहे हैं।

उस समय उनके हृदय का भाव कैसा था, यह ज्योतिजी के हृदय में प्रत्यक्ष अनुभूत हो रहा था। ध्रुव जगत् की प्रत्येक वस्तु में श्रीहरि की चैतन्यमय सत्ता का अनुभव करने के फलस्वरूप अधिकांश समय आत्मविस्मृत रहते थे।

ज्योतिजी ने और भी देखा, किसी समय ध्रुव ने भीषण हिंसक पशु को कमलदलनयन श्रीहरि समझ कर व्याकुल हृदय से उसका

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अलिङ्गन किया, किन्तु उनके उस भाव से अनुप्राणित होकर हिंसक पशु हिंसा भूल कर शान्त भाव से स्थिर रहा। ध्रुव की उस तीव्र व्याकुलता एवं हृदय की आर्त पिपासा का भाषा द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता। यद्यपि ध्रुव ने अपने मुँह से अपनी आन्तरिक अवस्था का अथवा बाहरी घटनाओं का कोई वर्णन ज्योतिजी के निकट किया नहीं, तथापि उनके हृदय के अन्तस्तल में एक के बाद एक सभी अवस्थाएं प्रतिभासित हो गई थीं। ज्योतिजी ने देख पाया कि इतने गहरे विरह भाव के रहते हुए भी ध्रुव श्रीहरि के दर्शन नहीं पा रहे थे। यद्यपि वे प्रत्येक वस्तु में, वृक्ष-लता में, फूल-पत्तों में, पशु-पक्षी में, जल-स्थल में आकाश के भीतर और बाहर श्रीहरि की अखण्ड सत्ता का अनुभव कर रहे थे तथापि वह उनका विरह की भावना में देखना था। क्योंकि स्थूल में सामने श्रीहरि के मङ्गलमय विग्रह के दर्शन करने में तब भी वे समर्थ नहीं हुए थे। साथ ही साथ ज्योतिजी यह भी जान सके थे कि प्रेम का पूर्ण विकास न होने तक मूर्ति का आविर्भाव नहीं होता।

इसके पश्चात् ज्योतिजी ने सोचा कि ध्रुव ने श्रीहरि के मूर्तरूप के दर्शनों की प्राप्ति के लिए किस क्रम का अवलम्बन किया था यह देखना चाहिए। साथ ही उन्हें देख पड़ा कि शब्द और ज्योति के स्तर को आयत्त कर ध्रुव उसमें गंभीर भाव से मग्न हो पड़े। इस मग्नावस्था में जिस मुहूर्त में उनके रूप के दर्शन की इच्छा जागी उसी मुहूर्त में साथ ही साथ ज्योति से मूर्ति का आविर्भाव हुआ। ज्योति और मूर्ति स्वरूपत: एक ही वस्तु हैं, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु वैसा होने पर भी ज्योति-दर्शन और रूपदर्शन एक ही साथ नहीं होते। ज्योतिदर्शन होने के बाद ज्योति में प्रतिष्ठा होने पर यदि इच्छा का उदय होता है तो वह ज्योति ही इच्छानुरूप मूर्ति के आकार में विकास को प्राप्त हो उठती है। ज्योति में स्थिति-लाभ किये बिना जो रूपदर्शन होता है वह केवल मन की कल्पना है, उसका पारमार्थिक मूल्य बहुत कम है। तब श्रीहरि की मूर्ति के दर्शन प्राप्त कर आनन्द में मग्न हुए ध्रुव ने ज्योति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जी की ओर दृष्टि फेर कर कहा, "इस प्रकार की व्याकुलता और प्रीति जब श्रीहरि के प्रति उत्पन्न होगी तब तुम भी उनके दर्शन पाओगे।"

ज्योतिजी इस प्रकार अपनी अनुभूति का वर्णन कर बोले, यह सत्य होने पर भी कृत्रिम था, क्योंकि महात्माजी ने योगबल से मुझे ध्रुवतत्त्व प्रत्यक्ष दिखाने के लिए यह सारी सृष्टि कर प्रदर्शन किया था। इस प्रकार उन्होंने और भी बहुत से प्रसङ्ग उठाकर साधन तत्त्व के सम्बन्ध में उनकी व्यक्तिगत धारणा क्या है इसका मेरे निकट वर्णन किया था।

प्रश्न हो सकता है कि अपनी शक्ति से जो कार्य सम्पन्न हो सकता है—यद्यपि अपनी शक्ति के विकास के मूल में महात्मा की कृपा थी इसमें सन्देह नहीं—उसके लिए दूसरे की शक्ति का आश्रय ग्रहण करने की सार्थकता क्या है? इसके उत्तर में ज्योतिजी ने कहा था कि शक्ति की क्रिया ज्ञान के ऊपर निर्भर करती है। उस समय वह उनके ज्ञान के अगोचर था एवं जिन्हें आयत्त करना उनके लिए तब आवश्यक था, उन सब निगूढ तत्त्वों को दिखलाने के लिए साधारणतः महापुरुष उन्हें आकर्षण कर ले जाते थे। इसके कारण बाल्य अवस्था में ही ज्योतिजी का स्थूल जगत् में संचरण करने का अभ्यास दृढ़ हुआ था। ज्योतिजी बहुधा प्रथम अवस्था में कौतूहलवश अपनी शक्ति द्वारा अनेक कार्य करते थे। कभी-कभी वे मनुष्य की मृत्यु के बाद क्या अवस्था होती है अर्थात् उसकी गति किस प्रकार की होती है यह प्रत्यक्ष देखने के लिए सूक्ष्म देह से मृत व्यक्ति का अनुसरण करते थे। इससे उनके जीवन की अनेक बद्धमूल धारणाएँ बदल गई थीं, कर्म अथवा पाप-पुण्य के सम्बन्ध में अनेक जटिल रहस्य उनके निकट खुल गये थे। इसीलिए वे बहुधा कहते थे कि किसी को पापी समझ कर घृणा करना उचित नहीं है, अपनेको भी धार्मिक समझ कर अभिमान करना उचित नहीं है।

ज्योतिजी पहले के प्रसङ्ग के ऊपर ही फिर बोलने लगे। "ईश्वर हैं यह ध्रुव सत्य है, वे सर्वत्र समानरूप से स्थित हैं, किन्तु मनुष्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में उनका कुछ विशेषत्व है। सूर्य का प्रकाश सर्वत्र समानरूप से पड़ने पर भी दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थों में सूर्य का प्रतिबिम्ब स्फुट रूप से अपने को प्रकट करता है इसलिए उसकी विशिष्टता है। ठीक उसी प्रकार भगवत्सत्ता समानरूप से सर्वत्र विराजमान रहने पर भी एकमात्र मनुष्य के हृदय में वह अपने को स्वयं धरा (पकड़ा) देती है अर्थात् पूर्ण ईश्वर-ज्ञान एकमात्र मनुष्य ही प्राप्त कर सकता है। मनुष्य के सिवा अन्यान्य जीव प्राकृतिक नियम के अधीन होकर चलना फिरना करते हैं, किन्तु मनुष्य की एक ऐसी विशेषता है जिसके कारण मनुष्य पशु-पक्षी के तुल्य केवल प्रकृति के नियम से बँधा नहीं रह सकता। यही उसका व्यक्तित्व है। इस व्यक्तित्व के आधार पर ही अधिकारानुसार भक्त और भगवान् का सम्बन्ध परिस्फुट होता है अथवा पूर्णत्व की अभिव्यक्ति होती है।

"अन्धकार और प्रकाश के परस्पर मिलने से सृष्टि की सूचना होती है, किन्तु केवल अन्धकार से अथवा केवल प्रकाश से कुछ उत्पन्न नहीं हो सकता। आजकल वैज्ञानिक आविष्कार निरन्तर नूतन नूतन हो रहे हैं। एक समय जो असंभव प्रतीत होता था कालान्तर में वही सर्वसाधारण के परिचित तथ्य के रूप में परिणत हो जाता है। यह सच होने पर भी इस वैज्ञानिक सृष्टिकी धारा में एक स्थान पर सीमारेखा खींचनी होगी।

"यहाँ अर्थात् पृथ्वी में जो कुछ नूतन प्रतीत होता है वास्तव में वह नूतन नहीं है। इस विश्व में ही ऐसे स्थान हैं जहाँ यह चिरपुरातन रूप में ही विद्यमान दिखाई पड़ता है। वास्तव में उन सब ऊर्ध्व लोकों के केन्द्रों से ही पृथिवी में नये नये आविष्कार होते हैं, किन्तु मनुष्य उन्हें जान नहीं सकता, क्योंकि साधारण लोग जगत् का रहस्य कुछ भी नहीं जानते। विज्ञान की विचित्रता से मुग्ध होकर आत्म-विस्मृत होना उचित नहीं है। यद्यपि विज्ञान के बल से पेड़, लता आदि, यहाँ तक कि नरदेह के अवयवों की भी सृष्टि हो सकती है, पर उसमें मन का सन्निवेश होने की संभावना नहीं है, उससे कर्म ज्ञान

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और भक्ति की स्वाभाविक क्रिया निष्पन्न नहीं हो सकती।' वह सृष्टि अर्थात् विज्ञान कल्पित सृष्टि मनुष्य के तुल्य इच्छामय की इच्छा के साथ योग प्राप्त करने के लिए आकुल नहीं होगी। यह एकदम सत्य है। मनुष्यों के नेत्र खुलने पर एक समय यह सभी देख पावेंगे। मनुष्य विज्ञान की सहायता से सृष्टि का उत्कर्ष चाहे जितना ही प्राप्त करे, एक समय एक स्थान में पहुँचने पर उसकी क्रिया रुक जायगी। तब एक विशाल तत्त्व से ऐसी कोई एक वस्तु उधार लेनी होगी, जिसकी वह कदापि सृष्टि नहीं कर सकता। उस सत्ता को उधार न ले सकने पर वास्तविक सृष्टि का उदय ही अत्यन्त असंभव है। जो सत्ता उधार लेनी होगी कहा गया है एवं जिसको लिये बिना सृष्टि का पूर्ण विकास हो नहीं सकता वही चैतन्यस्वरूप एक ज्योतिर्मय पदार्थ है, उसी का नाम आत्मा है।

"प्रकाश में चैतन्य का विकास है, अन्धकार में भी है। अन्धकार चैतन्य की गंभीर अवस्था है और प्रकाश चैतन्य की निकट अवस्था है। जैसे समुद्र का जल हाथ में उठा लेने पर एक तरह का प्रतीत होता है, किन्तु विशाल समुद्र में रहने पर वह दूसरे प्रकार का मालूम पड़ता है, यह भी बहुत अंशों में उसी तरह का है।"

प्रश्न—किस उपाय का अवलम्बन करने पर मनुष्य परम पुरुष के साथ योगरक्षा कर अपने व्यक्तित्व को बचा सकता है? ज्योतिजी बोले "परमेश्वर सर्वज्ञ हैं एवं सब विषयों में मन को छोड़ सकने पर मनुष्य उन्हीं की तरह सर्वज्ञ और स्वाधीन हो सकता है। मन को छोड़ देना भी एक प्रकार का योगस्थ भाव है। किन्तु योगावस्था से इसका कुछ पार्थक्य है। योनस्थ अवस्था में मन अपने इष्ट विषय में निविष्ट होकर अर्थात् डूबकर उसके साथ युक्त हो जाता है। किन्तु इस अवस्था में मन के ऊपर स्वाधीनता रहने के कारण मनुष्य मन के अभीष्ट विषय में युक्त होने के पूर्व ही स्वाधीन इच्छा के प्रभाव से मनको छोड़कर अभीष्ट विषय में स्वयं निविष्ट हो जाता है। इसी का नाम मन को छोड़ना है। योगावस्था में केवल आनन्द का उदय होता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है, किन्तु मन के अपने अधीन रहने की अवस्था में मन को छोड़कर पहुँचने पर आनन्द के बदले पूर्णानन्द अथवा ईश्वरत्व की प्राप्ति अवश्य होती है।

—"साधारणतः लोग प्रत्येक मुहूर्त में अन्धे की तरह जगत् में भटकते फिरते हैं, उनमें वास्तविक स्वाधीनता है अथवा नहीं यह विचारणीय है। ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वनियन्ता न होनेपर भी स्वाधीन हैं। ईश्वर और जीव में व्यवधान है, इसलिए जीव ईश्वर से अपने को पृथक् मानता है एवं रातदिन अतृप्त अवस्था में हाहाकार करता रहता है। ईश्वर निर्गुण, निष्क्रिय और चैतन्यस्वरूप दर्शक हैं, किन्तु जीवात्मा इन्द्रिय-संयोग से क्रियाशील सचल और विवेकसम्पन्न है। किन्तु जिन मन और इन्द्रियों का आश्रय कर जीव की क्रिया और विवेक हो सकते हैं उस मन को किसी कौशल से छोड़ सकने पर जीव भी ईश्वर के तुल्य निर्गुण, निष्क्रिय और चैतन्यस्वरूप दर्शक हो सकता है। ईश्वर जो वस्तु है तब जीव भी वही वस्तु है, दोनों में कोई भेद नहीं रहता है।

साधारण मनुष्य समझते हैं कि जीव ईश्वर की इच्छा से उनके निर्दिष्ट मार्ग पर कठपुतली की तरह चलता जाता है, इसलिए जीवकी स्वाधीनता केवल कवि की कल्पना है। किन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। मनुष्य प्रकृति के नियमानुसार जब जो कुछ सामने पाता है उसी में लिप्त हो जाता हो ऐसी बात नहीं है। निम्न स्तर के जीवों में विवेक नाम की कोई वस्तु नहीं रहती है। एकमात्र मनुष्य ही विवेक-सम्पन्न है। विवेक न होने से ये सब जीव स्वभावतः ही चञ्चल हैं। उदाहरण के रूप में कहा जा सकता है कि जैसे चींटियों का एक दल जब किसी के बिछौने के ऊपर से चला जाता है तब उसे यह ज्ञान नहीं रहता कि कोई आकर उन्हें पीस सकता है। विवेक न होने के कारण ही ऐसा होता है। पक्षान्तर में विवेक रहने के कारण ही मनुष्य स्थिर, धीर और शान्त हो सकता है। दूसरे जीव वैसे नहीं हो सकते। इसलिए जीवात्मा की स्वाधीनता के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्बन्ध में आलोचना करने के पूर्व मैं आनुषङ्गिकरूप से दो एक विषयों में संक्षेपतः कुछ कहना चाहता हूँ।

"यह विषय और कुछ नहीं है, यह सभी का परिचित स्वप्न का व्यापार है। स्वप्न मन की एक चञ्चल अवस्था मात्र है। उस अवस्था में मन विवेक के अगोचर अशान्तभाव से घूमता फिरता है। जाग्रत अवस्था में चिन्तन के कारण कभी स्वप्न का उदय होता है, इसलिए स्वप्न की मूलभित्ति के सम्बन्ध में विभिन्न लोगों ने विभिन्न मत प्रकट किये हैं। किन्तु यह सत्य है कि स्वप्न का व्यापार विवेक के पूर्णतया अगोचर होता है। निम्नस्तर के सभी जीव विवेकहीन होने के कारण स्वप्न के तुल्य जीवनयापन करते हैं, ईश्वर के सम्बन्ध में उनकी कोई धारणा नहीं रहती है। वे प्रकृति के द्वारा चालित होते हैं। मनुष्य मन से युक्त और विवेकवान् होने के कारण ही उपाय का अवलम्बन कर विराट् और चैतन्यस्वरूप के निकट जा सकता है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन तत्त्वों की आलोचना करने पर यह स्पष्टरूप से जाना जा सकेगा।"

इसके बाद ज्योतिजी तीन देहों के रहस्य के सम्बन्ध में अपना व्यक्तिगत अनुभवमूलक मन्तव्य प्रकट करने लगे। उन्होंने कहा, "मानव-आत्मा तीन देह लेकर स्थित है। पृथिवी में उनके नाम है—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। मानवसृष्टि-धारा में ये तीन देह पर्यायक्रम से अवस्थित दिखाई पड़ती हैं। अन्य जीवों के सम्बन्ध में भी ठीक वही बात है। चैतन्यस्वरूपके मध्य में ये तीन प्रकार की देह माला की तरह गुँथी हैं। सूक्ष्म और कारण देह स्थूल को छोड़कर जा सकती हैं। कारण देह भी सूक्ष्म देह को छोड़ सकती है, केवल कारण देह ही दोनों प्रकार की देहों का त्याग कर अपना व्यक्तित्व लेकर पूर्ण विराट् चैतन्य स्वरूप हो जा सकती है। किन्तु कारण देह का ज्ञान पहले ही—स्थूल देह में रहते समय ही—उत्पन्न हो जाना आवश्यक है। केवल कारण देह से पूर्ण में पहुँचा नहीं जाता, वह असंभव व्यापार है। अथवा कारण का बोध ही न हो ऐसी अवस्था हो सकती है, यह सत्य है।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रश्न—चैतन्य स्वरूप वस्तु दो किस प्रकार की होती हैं। एक तो पहले से है ही, फिर दूसरी कहाँ से आई ?

ज्योतिजी—कारणदेह इच्छा करने पर द्वैत अवस्था में रह सकती है अथवा अद्वैत में भी पहुँचा सकती है यह मैंने अपने नेत्रों से देखा है। किन्तु अद्वैत में उसकी स्थिति नहीं होती। चैतन्य स्वरूप वस्तु दो हैं, यह बुद्धि के विचार से प्रतीत होता है। किन्तु वास्तव में वैसा है नहीं, क्योंकि कारणदेह वही हो जाती है अर्थात् पूर्णत्व लाभ करने पर वह जो थी फिर वही हो जाती है। यही बोधस्वरूप है।

प्रश्न—इससे किसी को शंका हो सकती है कि सभी जीव कभी न कभी बोध स्वरूप अवस्था प्राप्त करते हैं। यदि ऐसा होता हो तो साधन भजन की सार्थकता ही क्या रह गई ?

ज्योतिजी—यह ठीक नहीं है। सभी जीव बोधस्वरूप अवस्था प्राप्त करें, यह हो ही नहीं सकता। कारण, जीवन की दो धाराएँ हैं—एक बोधस्वरूप की धारा और दूसरी बोधहीन की धारा। इसीलिए अवस्था और अधिकार के अनुसार जीवों का दो प्रकार का ही परिणाम हो सकता है। एक प्रकाश और दूसरा अन्धकार, अथवा एक दिन और दूसरी रात्रि, अथवा एक स्वर्ग और दूसरा नरक इत्यादि। जो साधक जगत् में सत्यस्वरूप होने के लिए कठोर संयम से अग्रसर होते हैं वे भूल करते हों, सो बात नहीं है। जिस किसी भाव से हो पूर्ण की ओर आगे बढ़ने की चेष्टा करना आवश्यक है। किन्तु वास्तव में अधिकांश लोगों का जीवन लक्ष्य रहित होता है। किस ओर जाना चाहिए इसका कुछ भी ठिकाना नहीं रहता। उनका व्यक्तित्व नहीं है इसीलिए ऐसा होता है। किन्तु इस प्रकार के जीवन में विशेष कुछ लाभ नहीं होता—इसमें ईश्वर प्राप्ति होना असंभव है। पर कर्म करने से सुख, शान्ति आदि कुछ न कुछ न हो सकें ऐसी बात नहीं है।

प्रश्न—स्थूल और सूक्ष्म देहों में परस्पर क्या सम्बन्ध है ?

ज्योतिजी—हमलोग निद्रावस्था में नाना प्रकार के स्वप्न देख

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पाते हैं। कभी-कभी स्वप्न में कल्पना के अतीत दृश्य भी दृष्टिगोचर होते हैं। स्वप्न से जाग उठने पर प्रतीत होता है कि मैं देह त्याग कर कहीं चला गया था। वास्तव में स्वप्न सूक्ष्म देह का ही एक व्यापार है। अवश्य मस्तिष्क की दुर्बलता तथा वायु के प्रकोपवश नाना प्रकार के विकृत स्वप्न भी बहुधा दिखाई पड़ते हैं। मोहान्ध व्यक्ति को सूक्ष्म देह मोह और पराधीनता का भाव लेकर निद्राकाल में आकाश में विहार करती है। मुक्त महापुरुषों की सूक्ष्म देह में ज्ञान रहता है, वे अपने इच्छानुसार जगत् में सर्वत्र विहार कर सकते हैं। सूक्ष्म देह और स्थूल देह का सम्बन्ध समझ सकने पर यह विषय और भी स्पष्ट होगा।

—हम लोगों के मस्तिष्क से मेरुदण्ड के बीच से होकर एक नस रूपी डोरी मलद्वार के लगभग आधा हाथ ऊपर तक लटक रही है। उक्त डोरी के बीच में एक छेद है, वह नाभिमूल की विपरीत दिशा में मल द्वार के कुछ ऊपर तक आकर समाप्त होती है। नाभि-मूल के साथ उस छेद का आकर्षण-शक्ति मूलक एक सम्बन्ध है। छेद ऊपर की ओर मस्तिष्क तक पहुँचा है। इसीलिए नाभिमूल में अनन्त शक्तियों की आराधना का विधान है। ऊक्त नस की डोरी से अनुभव कराने वाली अर्थात् संवेदक स्नायु सारे शरीर में फैली हैं। जब हमलोगों की इच्छा से कुछ कार्य करने में प्रवृत्ति होती है तब वह मस्तिष्क में पहुँचती है। वहाँ प्रत्येक विषय का एक एक केन्द्र है। स्थूल देह में जिस स्थान द्वारा वह कार्य सम्पन्न होना संभव है उसके साथ मस्तिष्क से पूर्वोक्त संवेदक नसों का योग है। वस्तुतः स्थूल देह में सर्वत्र ही वे नसें व्याप्त रहती हैं। ये उत्ते-जित होकर मांसपेशियों को अपने कार्य के लिए उत्तेजित करती हैं।

शास्त्र में लिखा है कि नाभिमूल में इष्ट देव की आराधना करने पर कुण्डलिनी जाग्रत् होती है। स्वयं मैंने इसका आशय यही समझा है कि इच्छा में जब किसी कार्य को आवश्यकता होती है तब उसे मस्तिष्क की सहायता लेनी चाहिये। नाभिमूल में इष्ट देव की आराधना के समय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इच्छा तस्तिष्क की सहायता लेकर इष्ट देव की मूर्ति गढ़कर स्वस्थान में (नाभिमूल में) अपना कार्य साधन करने के लिए जाती है। तब उस स्थान की मांसपेशियां उत्तेजित होती हैं। इसका वास्तविक रहस्य सद्गुरु के मुख से जान लेना चाहिए।

—नाभिमूल में एक स्वाभाविक तेज विद्यमान रहता है, इसलिए उस स्थान में इष्टदेव के रूप की आराधना कर सकने पर उससे एक महातेज का आविर्भाव होता है। तब क्रमशः समग्र स्थूल शरीर भी तेजोमय पदार्थ के रूप में परिणत हो जाता है।

बहुधा देखने में आता है कि कोई कोई महापुरुष योगासन पर बैठकर योग से मन और इच्छा को समाहित कर, आसन का त्याग कर ऊपर कीं ओर उत्थित होते हैं। इसका कारण और कुछ नहीं है। जैसे लोहा जल में तैरता नहीं, किन्तु पारे के ऊपर तैरता है, हम लोगों की भी ठीक उसी प्रकार की अवस्था है। जितने दिन तक मन अथवा इच्छा वासनाओं से घिरी रहती है तब तक वह भव-समुद्र के नीचे पड़ी रहती हैं। तेज अत्यन्त हल्का पदार्थ है, यह वायु समुद्र के ऊपर उठे इसमें आश्चर्य होने का कुछ भी कारण नहीं है। देह तेजोमय होने के कारण हल्की होती है इसलिए स्वभावतः ही ऊपर उत्थित हो जाती है।

—अवश्य बहुत से लोग इस सब की ठीक ठीक धारणा नहीं कर सकेंगे। किन्तु यह सत्य है कि पूर्वोक्त महातेज के साथ मस्तिष्क का योग होने पर मस्तिष्क की शक्ति बढ़ जाती है एवं इच्छा एकाग्र हो जाती है और कुप्रवृत्ति इच्छा को बश में नहीं कर सकती। इच्छा स्थूल वस्तु नहीं है, वह सूक्ष्म है—प्रकृति को आश्रय करना ही उसका स्वाभाविक गुण है। देह इच्छा के अधीन है। प्रवृत्ति सुप्रवृत्ति और कुप्रवृत्ति भेद से दो प्रकार की है। कुप्रवृत्ति के द्वारा चालित इच्छा ही कु-इच्छा है—उसका वशवर्ती शरीर शीघ्र विनष्ट हो जाता है। देह के नष्ट होने पर इच्छा में पश्चाताप का उदय होता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। इतना बड़ा सुखका घर गिर गया इसलिए वह अपने को धिक्कार देती है।

—कोई कोई सोच सकते हैं कि देह के नाश के साथ ही साथ निर्वाण हो जाता है, इस लिए इच्छा को फिर पश्चात्ताप किस प्रकार होगा? किन्तु वास्तव में ऐसा होता नहीं। सत् प्रवृत्ति के द्वारा परिचालित इच्छा की वशीभूत देह बहुत दिनों तक स्थायी रहती है। बहुत से योगी ऋषियों की कथा सुनाई देती है कि वे लोग सौ सौ वर्ष तो दूर की बात है, युग युगान्तर तक गुफा के भीतर रह कर "हे पिता" "हे माता" "हे गुरु" कह कर आर्तभाव से ऊँचे स्वर में पुकार रहे हैं एवं वासनारूप तीव्र अग्नि की निवृत्ति के लिए एक एक दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए रो रहे हैं। इसमें अविश्वास का कोई कारण नहीं है। समुद्र से कुछ जल निकाल कर किसी एक वर्तनादि आवरण में रखकर फिर उसे समुद्र में फैंक देने पर पहले जल से दूसरा जल भिन्न-सा प्रतीत होता है। जल के साथ आवरण होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है। जब तक आवरण नष्ट नहीं होता तब तक यह समुद्र के भीतर डोलता रहता है, अन्त में आवरण के नष्ट होने पर जल के साथ जल मिल जाता है। ठीक उसी तरह प्रवृत्तिरूप आवरण के द्वारा हम लोगों की इच्छा आवृत रहती है, जितने दिनों तक इच्छा समझ नहीं सकती कि वह इच्छामय के इच्छारूप से जीवदेह में टिक रही है उतने दिनों तक उसको संसार में घूम फिर कर आना पड़ता है। यह जो मैंने इच्छा की बात कही, शास्त्र में इच्छा न कह कर सूक्ष्मदेह के रूप में इसका वर्णन किया गया है। वास्तव में दोनों ही मूल में एक वस्तु होने पर भी दोनों में थोड़ा भेद है, अपने अनुभव के द्वारा इस भेद को समझना चाहिये। असीम अखण्डाकार सर्वशक्तिमान पूर्ण ब्रह्म सूक्ष्म और स्थूलरूप से पुरुष और प्रकृति बनकर स्वतः ही विराजमान हैं।

—उन्हीं से सूक्ष्मरूपी पुरुष और प्रकृति आविर्भूत होते हैं। सूक्ष्म से स्थूलभाव का उद्‌भव होता है। स्थूल देह परछाईं के तुल्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सूक्ष्म देह का अनुसरण करती है। स्वरों के बिना जैसे व्यञ्जन वर्णों का उच्चारण नहीं किया जा सकता वैसे ही सूक्ष्म देह के न रहने पर स्थूल देह अपना कोई काम नहीं कर सकती। सूक्ष्मदेह ज्ञानस्वरूप है। यह गुणमय और अनादि पुरुष पर आश्रित है। स्थूल देह यदि सूक्ष्म देह द्वारा प्रदर्शित पथ पर चालित हो तो सर्वज्ञानमय और सर्वतेजोमय हो सकती है। किन्तु वह यदि कामना और प्रकृति के द्वारा प्रलोभित होती है तो वह अपना अस्तित्व भूलकर, साधु संगति त्यागकर अधः पतन को प्राप्त होती है।

—सूक्ष्मदेह में ज्ञान का उदय होता है सही, किन्तु महा भाग्य यदि न रहा तो वह नहीं होता। जब तक भक्त भगवान् से अपने को अभिन्न नहीं जान सकता, जब तक कर्म करते हुए भी अकर्त्ता के रूप में न रहा जाय एवं ज्ञानी हो कर भी अपने को मूर्ख अथवा अज्ञानी न माना जाय तब तक निष्क्रिय, निर्गुण, अनन्त, सर्वशक्तिमान् भगवान् को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

—आवरण द्वारा आवृत रहने पर सूक्ष्म देह अथवा इच्छा को किस प्रकार पाया जायगा। आवरण के हटे बिना उसमें वह किस प्रकार मिल सकेगा? जो साधक भगवान् की मातृभाव से किं वा पितृभाव से अथवा भ्रातृ भाव से या अन्य किसी भाव से उपासना करते हैं, वे देहत्याग कर उनको उसी भाव से देख पाते हैं। एवं परमानन्द-भोग करते हैं।

रामप्रसाद ने गाया है,—

"चिनि हओया भालो नय मन
चिनि खेते भालबासि।"

अर्थात् अरे मन चीनी होना अच्छा नहीं है, चीनी खाना अच्छा है। इस लिए यह सत्य है कि ज्ञानयोग, कर्मयोग अथवा भक्तियोग के द्वारा सूक्ष्म देह अन्धकार से प्रकाश में आ पहुँचती है अर्थात् सम्पूर्ण आवरणों से छुटकारा पा जाती है। किसी एक घर को चौगिर्द बन्द

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कर देने पर उसका भीतरी भाग अन्धकार से आच्छन्न हो जाता है, क्योंकि उसको चार दीवारियाँ ईंट की बनी है एवं इसलिए बाहर के प्रकाश को भीतर आने देने में प्रतिबन्धक स्वरूप हैं। किन्तु वे चहार दीवारियाँ ईंट की बनी न हो कर यदि साफ कांच की बनी हों तो भीतर से ही चारों ओर दिखाई दे सकता है और साथ ही साथ घर का भीतरी भाग भी प्रकाश से प्रकाशित होता है। ठीक इसी प्रकार स्वप्नावस्था में हमारे शरीर से जो सूक्ष्म देह बाहर निकलती है वह तमोराशि से आवृत रहती है। गाढ़ अन्धकार में जो निवास करता है वह प्रकाश की कल्पना किस प्रकार करेगा? गुरु के उपदेश से जब यह आवरणरूपी तमोराशि हटती है, तब सूक्ष्म देह में सूक्ष्म जगत् के सब विषय दीख पड़ते हैं एवं जाग्रत् अवस्था में भी वह अपने इच्छानुसार शरीर से बाहर निकल सकता है। यह अत्यन्त साधारण वस्तु है एवं इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है।

—मृत्यु के बाद जो सूक्ष्म देह शरीर से बाहर निकल जाती हैं, साधारणतः उसे भौतिक आत्मा कहते हैं। वास्तव में मृत्यु कोई चीज नहीं। जब सूक्ष्म देह स्थूल देह के द्वारा कुछ करा नहीं सकती तब वह बाध्य होकर स्थूल देह का त्याग कर देती। तभी हम कहते हैं, अमुक की मृत्यु हो गई है। वस्तुतः इच्छा के कुप्रवृत्ति के वशीभूत होने पर शरीर के सब पुर्जे अपना अपना काम भली भाँति नहीं कर सकते। मस्तिष्क के सब केन्द्र क्षीण हो जाते हैं। क्रमशः शरीर शिथिल हो कर अन्त में प्राणविहीन हो जाता है। किन्तु देह का पात होने पर भी सूक्ष्म देह की प्रवृत्ति नष्ट नहीं होती। तब प्रवृत्ति के वश सूक्ष्म देह नाना प्रकार के कर्म करना चाहती है। कोई कोई सूक्ष्म देह प्रकृति की प्रेरणा से इतनी अधिक उत्तेजित हो पड़ती है कि वह जीवित दूसरे मनुष्य के शरीर में तक प्रवेश करती है। व्यावहारिक जगत् में इसीको भूत लगना कहते हैं। कभी कभी यह भी दिखाई देता है कि भौतिक आत्मा भौतिक देह धारण करती है। किन्तु वह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अधिक समय तक स्थायी नहीं रहती। भौतिक आत्मा प्रवृत्ति की परिधि के भीतर रहकर इच्छानुरूप कर्म करता है, कर्म का भोग प्रायः समाप्त होने पर फिर जन्म ग्रहण करता है।

प्रश्न—देह के कर्म समाप्त हो जाने पर यह स्वाभाविक है कि देह भगवान् के साथ मिल जाय। वह फिर जन्मग्रहण क्यों करेगी ?

ज्योतिजी—सूक्ष्म देह अथवा भौतिक आत्मा स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु, विषय-सम्पत्ति जो कुछ भी त्यागकर चला गया है उसके प्रति मायिक आकर्षण का उसे अनुभव होता है एवं अमुक्त कर्मों के लिए वह स्थूल में आने को बाध्य होती है। कभी कभी पूर्व जन्म में अनुभूत विरुद्ध भावों की प्रबलता वश बदला लेने के उद्देश्य से उन्मुख होता है। ऐसी स्थिति में सूक्ष्म अवस्था में भीषण अनुभव होता है। यह भी स्थूल में आने का एक कारण है। इस तरह की वासनाओं के निवृत्त होने पर भी मूल संसार-वासना निवृत्त नहीं होती। योग की आराधना के बिना इसकी निवृत्ति हो नहीं सकती। और एक बात है। भौतिक देह प्रवृत्ति के बाहर किसी नूतन कर्म का अनुष्ठान नहीं कर सकती। प्रवृत्ति के परिवर्तन के लिए फिर देह धारण करना पड़ता है। उस समय पूर्ण ब्रह्म नारायण अपना रूप धारण कर उसको दर्शन देते हैं।

"शास्त्र में कहा है, जीव जो कर्म करता है उसका अधिकांश फल वर्तमान जन्म में भोगता है और भोग समाप्त होने पर कर्म के परमाणु प्रवृत्तिरूप से चित्त में लगे रहते हैं। जैसे एक वृक्ष पहले छोटा रहता है; बाद में धीरे धीरे वृद्धि को प्राप्त होता है, क्रमशः उसमें फूल लगते हैं एवं अन्त में वे फूल फलों के रूप में बदल जाते हैं। फल पक कर बीज की रक्षा कर गल जाते हैं। इस प्रकार चलते चलते किसी समय जब वृक्ष आदि विनष्ट हो जाते हैं तब भी एकमात्र चिह्नभूत बीज ही विद्यमान रहते हैं, ठीक उसी प्रकार हमारे कर्मों के विषय में भी जानना चाहिए। कर्म से भी भोग बीज ही अवशिष्ट रहते हैं, एक के बाद एक करके कर्मबीज ही इकट्ठे होकर एक देहरूप घर की रचना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करते हैं। मृत्यु के बाद सूक्ष्म देह उसमें प्रवेश करती है। इसके अनन्तर बहुत दिनों तक निद्रित अवस्था में आकाश में स्थित रहता है। श्राद्ध आदि क्रियाओं के द्वारा अथवा जाति धर्मानुसार अन्य क्रिया द्वारा वह जाग्रत् होती है, जाग्रत् होकर ही पूर्वोक्त कर्म बीजों को देख पाती है। तब सत् और असत् कर्मों के बीज क्रमशः स्वर्ग और नरक के भोग के मार्ग की सृष्टि करते हैं, उसके अनन्तर सूक्ष्म देह में जीव अपने अस्तित्व का अनुभव करता है एवं अपना स्वरूप देख पाती है।

"सूक्ष्म देह में कर्मभोग समाप्त होने पर भी अणु विद्यमान रहते हैं। इसलिए तब समझ में आ सकता है कि अभी भी लीला की समाप्ति हुई नहीं। सूक्ष्म देह निद्रित अवस्था में मातृयोनि में प्रविष्ट होता है एवं वहाँ फिर दस महीने रह कर तत्पश्चात् स्वयं ही अपने को जगाकर संसार में प्रवेश करने की चेष्टा करता है।"

ज्योतिजी कहने लगे "यहाँ तक जो कहा गया है उससे समझ में आ सकेगा कि स्वप्न में जो देखा जाता है उसी का नाम सूक्ष्म देह है। वह चञ्चल और विवेकरहित है, किन्तु साधना के द्वारा उसे विवेकवान्, स्थिर और इच्छानुरूप बना लिया जा सकता है। एक स्थिर वस्तु के ऊपर दूसरी वस्तु की छाया स्थिर रूप से ही प्रतिभासित होती है, क्योंकि कारण देह एकदम स्थिर और सुशान्त न होने पर भी बहुत कम चञ्चल है, इसलिए सूक्ष्म देह के लिए उसे पकड़ पाना उतना कष्ट साध्य नहीं है। कारण देह शान्त होने पर भी पूर्ण शान्त नहीं है—यही हमने कहा। इसका कारण है वह पूर्ण नहीं है। महाकारण के नाम से मानव की एक अवस्था है, वही पूर्ण अवस्था है। उस अवस्था में शान्ति एकदम पूर्ण रहती है। लेशमात्र भी चञ्चलता उसमें रह नहीं सकती। जो यथार्थ सत्य है, वह स्थिर और शान्त न हो ऐसा हो नहीं सकता। उससे थोड़ा दूर रहने पर भी प्राकृतिक नियमानुसार चञ्चलता का उदय होता है, यह स्वभाविक नियम है।"

प्रश्न—ऐसी स्थिति से आप कह रहे हैं, सूक्ष्म देह एकदम स्थिर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

न होने पर भी स्थिर है एवं कारण देह भी वैसी ही है। दोनों स्थिर देह किस प्रकार हो सकती हैं ?

ज्योतिजी—सूक्ष्म देह को साधना द्वारा स्थिर और धीर कर लेने पर भी उसे क्रियाशील चञ्चल क्षुद्र बृहत् आदि नाना रूपों में अपने इच्छानुसार रूपान्तरित किया जा सकता है। किन्तु कारण देह वैसी नहीं है। वह सूक्ष्म देह के प्रदर्शित पथ की दर्शक मात्र है। यदि किसी को महाकारण अथवा पूर्ण शक्ति की अवस्था में पहुँचना हो, तो कारण जगत् से वहाँ पहुँचा नहीं जा सकेगा। क्यों कि कारण अवस्था में द्वैतभाव पूर्ण मात्रा में रहता है। वहां भक्त भगवान् भाव पिता-पुत्र सम्बन्ध के तुल्य गंभीर भाव से प्रतिष्ठित रहता है, उसे किसी समय दूर करने का कोई उपाय नहीं है। इस लिए महाकारण अथवा पूर्ण में यदि पहुँचना हो तो मनुष्य को स्थूल अथवा सूक्ष्म जगत् के मध्य से ही अथवा स्वर्ग, नरक, सुख दुःख, भक्त भगवान् इत्यादि वैचित्र्यमय अवस्थाओं का अतिक्रमण करके हो जाना होगा।

प्रश्न—पशु पक्षियों की सूक्ष्म देह के सम्बन्ध में आप का अनुभव किस प्रकार का है ?

ज्योतिजी—उनकी सूक्ष्म देह है अवश्य, किन्तु वह वैचित्र्यहीन है। स्थूल देह के तुल्य ही विवेक न होने से उसके द्वारा साधना का कोई कार्य हो नहीं सकता अथवा उससे अपनी इच्छा का कोई प्रयोग चलता नहीं। योगभ्रष्ट मानवात्मा निम्न देह का आश्रयण कर कर्म-फल भोग के लिए संसार में प्रवेश करते हैं उनकी सूक्ष्म देह में कभी-कभो विवेक-संचार की उपलब्धि होती है। जगत् में प्रत्येक वस्तु किस प्रकार चैतन्यमय के साथ युक्त है यह बात पूर्वोक्त महापुरुष के अनुग्रह से मैंने सूक्ष्म देह में शरीर से निकल कर सज्ञानावस्था में देखी है।

प्रश्न—कारण देह से महाकारण अथवा पूर्ण में पहुंचा नहीं जा सकता, यह आपने कहा है। यह सत्य प्रतीत होता है, क्यों कि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उस स्तर में पिता पुत्र के तुल्य भक्त भगवान या उपास्य-उपासक भाव, किसी न किसी प्रकार का द्वैतभाव गंभीर भाव से रह जाता है। अथवा उस स्थान को विलुप्त भी कर दिया जा सकता है। मुझे प्रतीत होता है 'अहम्' बोध छोड़ दे सकने पर ही यह संभव है। तब जल में जल के मिलन की तरह एक अवस्था का उदय होता है। उसे एक प्रकार की सुषुप्ति ही कहना बनता है, किन्तु साथ ही साथ यह भी सत्य है एवं आप ने यह भी कहा है कि एकमात्र कारण से ही पूर्ण मैं पहुँचा जा सकता है। आप के इन परस्पर विरुद्ध दो वाक्यों का सामञ्जस्य किस प्रकार होगा ?

ज्योतिजी—योग-मार्ग में जाने पर अर्थात् भक्त और भगवान् यह भाव लेकर कारण जगत् में प्रवेश करने पर वहाँ प्रविष्ट होकर अपनी अपनी भावना के अनुरूप स्थिति प्राप्त हो जाती है। तब भक्त और भगवान् इस प्रकार का द्वैतभाव स्थायी होता है। किन्तु योग मार्ग में न जा कर प्रेम पथ पर अग्रसर होने पर कारण जगत् में जाकर दीख पड़ता है कि कृपा नामक एक पदार्थ है। दोनों के समान समान हुए विना प्रेम का उदय नहीं होता, तब विराट् प्रेममय प्रत्यक्ष रूप से समझा देते हैं—'वे ही तुम हो', 'तुम्ही वे हैं'। वस्तुतः उसी का नाम महाकारण या महाशक्ति है। साम्यभाव के ऊपर ही कृपा प्रतिष्ठित है। कृपा से मैं तुम एक हो कर विश्वमय अद्वितीय 'मैं' के रूप में प्रकट हो उठते हैं। इस विराट् 'मैं' से मै-पन (अहन्ता) को हटा देने पर जो अवशिष्ट रहता है वही पूर्वोक्त सुषुप्ति है।

प्रश्न—आप भगवत्प्रेम शब्द से क्या समझते हैं, वह किस प्रकार का है ?

ज्योतिजी—जब जगत् में प्रत्येक वस्तु की अपने तुल्य भावना की जा सकती है तब समझना होगा कि भगवत्प्रेम का उदय हुआ है। बुद्ध देव द्वारा प्रचारित अहिंसाभाव इसी का नामान्तर है।

प्रश्न—कारण जगत् में 'अहम्' बोध को लुप्त कर देने पर ही सुषुप्ति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के सदृश एक अवस्था का उदय होता है, यह आप ने ही कहा है। इसका तात्पर्य क्या है ?

ज्योतिजी—जल में जल मिला देने पर अथवा दूध में दूध मिला देने पर जिस अवस्था का उदय होता है वह भी कुछ अंशों में इसी प्रकार की अवस्था है। 'अहम्' बोध का त्याग कर देने पर जो अवस्था शेष रहती है उसको सुषुप्ति के सिवा और कुछ नहीं कहा जा सकता है, यद्यपि वह लौकिक सुषुप्ति नहीं है। भगवत्कृपा से 'मैं' 'तुम' एक होकर विश्वमय 'अहम्' रूप से प्रकाशमान होते हैं, वह अवस्था भिन्न है। योग मार्ग में षट्चक्र-भेद के कारण ऐश्वर्य का उदय क्यो होता है ? स्वस्थ शरीर में विष खा लेने पर जैसे विष की क्रिया न हो ऐसा संभव नहीं है वैसे ही मन को देह में किसी चक्र में रख सकने पर वहाँ की पूर्ण शक्ति साधक में अवश्य ही आवेगी। मन तेज दौड़ने वाले घोड़े के तुल्य शीघ्रगति है। उस अवस्था में साधक के जीवन में ऐश्वर्य का अभाव नहीं होता, किन्तु ऐश्वर्य-लाभ होने पर भी मन का अतिक्रमण कर पूर्ण में पहुँचने का कौशल समझ में नहीं आ सकेगा। ऐश्वर्यमय भगवान की विभूति के रूप में इस ऐश्वर्य में समग्र जगत् स्फुरित हो उठा है। हम सभी लोगों में यह है। किन्तु भगवान् विभूति नहीं हैं, यह पहले ही कह चुका हूँ।

प्रश्न—यदि कोई महापुरुष का अनुग्रह प्राप्त कर ऊपर की ओर उठे तो उनके पतन की आशङ्का निवृत्त होती है क्या ? बहुत ऊपर चढ़कर भी यदि कोई गिर पड़े तो उनके द्वारा प्राप्त अनुग्रह वस्तुतः अनुग्रह नहीं, जादूगर की तरह केवल एक खेल हैं।

ज्योतिजी—हाँ, वह जादूगर के खेल के तुल्य खेल है इसमें संदेह क्या है ! क्यों कि जागतिक नियम में बांध रखने के लिए जगत् सभी को सदा आकर्षण कर रहा है। उससे अपनी रक्षा करने के लिए सभी को प्रयत्न करना चाहिए', कोई भी किसी को चिर काल तक पकड़ कर बैठा नहीं रह सकता ! जिन्होने हम लोगों को शिक्षा-जीवन के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रथम भाग में वर्णमाला की शिक्षा दी थी, वे ही हमारे वास्तविक शिक्षक है, इसमें संदेह नहीं। किन्तु वे हम लोगों के जीवन के उच्चतम अध्ययन के अन्त तक साथ जाते नहीं, हम लोगों को उस मूल वर्णमाला का अवलम्बन करके ही अन्त तक स्वयं ही अग्रसर होना पड़ता है। वे अपने मार्ग में विदा लेते हैं। पर यह सत्य है कि एक शिक्षक के बाद ऊपर की भूमि में दुसरे शिक्षक की प्राप्ति होती है, वे उस पूर्व प्राप्त ज्ञान का ही क्रमिक उत्कर्ष सम्पादन करने में सहायता करते हैं। हम विवेक और मन का आक्रमण कर शायद ऐसे ही कितने ही विषयो की शिक्षा ले सकते है जिनका हमारे शिक्षकों का भी पता नहीं था। ठीक उसी प्रकार हम जब सोभाग्यवश किसी दिन आध्यात्मिक गुरु प्राप्त करेंगे तब देख पायेंगे कि वे हमारे तुल्य मनुष्य नहीं हैं। वे नित्य चैतन्य स्वरूप, सर्वज्ञ पुरुष हैं।

"वे हमारे निकट से भी निकटतर आत्मीय जन है—हमारे बन्धु हमारे गुरु और हमारे सर्वस्व हैं। वे अन्त तक हम लोगों के अपने समान कर ले जाते हैं। उनका दर्शन किया जा सकता है, उनके साथ साधारण मनुष्य के तुल्य बातचीत भी हो सकती है, इसमें अविश्वास की कोई बात नहीं है। यह सुयोग मनुष्य जीवन में कभी न कभी सभी को प्राप्त होता है, किन्तु कोई इसको पकड़ कर रख सकते हैं कोई पकड़ कर रख नहीं सकते। जब हम लोगों का विवेक मन को जीत कर चारों ओर के प्रलोभनों से निवृत्त होकर अन्तर्मुख होता है तब देह में वीनै के झङ्कार के तुल्य अथवा बासुरी की ध्वनि की तरह एक प्रकार का शब्द सुनाई देता है। मन जब उस शब्द में निविष्ट होता है, तब ज्योति का दर्शन प्राप्त होता है। उस ज्योति के पश्चात् हम लोगों के इष्ट अथवा गुरु दिखाई देते हैं। ये अर्थात् ज्योति के पश्चात्-वर्ती गुरु ही हम लोगों को विराट् निर्गुण और निष्क्रिय चैतन्य के निकट पहुचा कर उनके समान कर लेते हैं। तब हम पूर्णत्व प्राप्त कर वास्तविक आनन्द के आस्वाद को प्राप्त करते हैं। यह मेरा अपना उपलब्ध सत्य है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"मन के धोखे से अपने को बचा न सकने पर वास्तविक गुरु के दर्शनों की प्राप्ति नहीं हो सकती। जगत् में गुरु का यथार्थ आदर्श बहुत से लोग भूल गये हैं। गुरु और शिष्य—इन दोनों में कोई भी कम नहीं है। गुरु होना जैसे कठिन है, शिष्य होना उससे भी अधिक कठिन है। हम लोगों के मस्तक के ऊपर नीलाकाश में छोटे-छोटे नक्षत्रों के पुञ्ज दिन-रात उज्ज्वल प्रकाश से प्रज्वलित रहते हैं। हम सब आलोकमय उन सब नक्षत्रों को देख पाते हैं किन्तु वे सब नक्षत्र अपना आलोक स्वयं देख नहीं पाते, वे हम लोगों की पृथ्वी को ही आलोकित देखते हैं। उसी तरह जो गुरु की गद्दी पर उपविष्ट होते हैं वे भी शिष्य को अपनी ज्योति से ज्योतिर्मय बना कर देखते हैं। शिष्य भी वैसे ही गुरु को सर्वदा ही ज्योतिर्मय देखता है। यह सहज व्यापार नहीं है। साधना में प्रविष्ट हुए बिना यह रहस्य समझ में आना कठिन है।"

यहाँ तक जो कहा गया उस से साधनतत्त्व के सम्बन्ध में ज्योति जी की धारणा क्या थी उसका कुछ आभास प्राप्त हो जायगा। इस सम्बन्ध में उनके साथ बहुधा चर्चा चलती थी। इसलिए नाना दिशाओं से ही साधन समस्या के सम्बन्ध में उनका व्यक्तिगत मत जानने का अवसर हमें प्राप्त हुआ था। वे कहते थे, "किसी विषय में मन को एकनिष्ठ भाव से युक्त करना ही साधना है, पर यथार्थ साधना उसी का नाम है जिसके द्वारा परम तत्व की प्राप्ति में सहायता मिले। नीति, वैराग्य, ज्ञान, विवेक आदि साधक मात्र के ही आवश्यक गुण हैं।

मन ही साधना का प्रधान यन्त्र हैं। मनुष्य ईश्वर के लिए व्याकुल क्यों होता है यह जानने की यदि चेष्टा की जाय तो इस विषय को भली-भाँति जाना जा सकता है। यद्यपि मन अव्यक्त रूप से सदैव प्रभु के निकट ही विद्यमान रहता है, तथापि अज्ञान के प्रभाव से उस बोध न रख सकने के कारण अपने को उनके सम्बन्ध से विच्युत मानता है और कभी-कभी कारणवश पूर्व संस्कारों का उद्दीपन होने पर ही उनके साथ मिलित होने के लिए व्याकुल होता है। किन्तु यह व्याकुलता सर्वदा स्थायी नहीं रहती, और वैसी गम्भीर भी नहीं होती।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किन्तु स्थायी और आन्तरिक व्याकुलता के साथ त्याग और वैराग्य का सम्बन्ध रहने पर मन उनकी ओर आकृष्ट न हो ऐसा हो नहीं सकता।"

ज्योतिजी संन्यासीजी की शक्ति से शक्ति युक्त होकर लोक लोकान्तरों में विचरण करते थे, यह मैं पहले ही कह चुका हूँ। उनकी निज शक्ति का भी इतना विकास हुआ था कि दूसरे की सहायता लिये बिना भी बहुधा वे स्थूल देह का त्याग कर विभिन्न स्थानों में पर्यटन कर सकते थे।

प्रश्न हो सकता है कि अपनी शक्ति से जो कार्य हो सकता है— यद्यपि अपनी शक्ति के विकास के मूल में महापुरुष की कृपा थी, इसमें सन्देह नहीं है,—उसके लिए दूसरे की शक्ति का आश्रय ग्रहण करने की सार्थकता क्या? इसके उत्तर में ज्योतिजी ने कहा था कि शक्ति की क्रिया ज्ञान के ऊपर निर्भर रहती है। उस समय उनका ज्ञान बहुत कुछ सीमाबद्ध था। बहुत से गम्भीर विषय उनके ज्ञान के अगोचर थे—जिन्हें आयत्त करना उनके लिए तब आवश्यक था, उन सब गुप्त तत्त्वों को दिखाने के लिए महापुरुष उन्हें आकर्षण कर ले जाते थे। इससे बाल्य अवस्था से ही ज्योतिजी को सूक्ष्म जगत् में संचरण करने का अभ्यास हुआ था।

ज्योतिजी ने अनेक बार प्रथम अवस्था में कौतूहल वश अपनी शक्ति द्वारा बहुत कार्य करते थे। कभी-कभी वे मनुष्य की मृत्यु के बाद क्या अवस्था होती है अर्थात् उसकी गति किस प्रकार की होती है यह प्रत्यक्ष करने के लिए सूक्ष्म देह से मृत व्यक्ति का अनुसरण करते थे। इससे उनके जीवन की अनेक बद्धमूल धारणाएं बदल गई थीं। कर्म या पाप-पुण्य के सम्बन्ध में अनेक जटिल रहस्य उनके निकट खुल गये थे। इसलिए बहुधा वे कहते थे कि किसी को भी पापी कहकर घृणा करना उचित नहीं और अपने को धार्मिक मान कर अभिमान करना भी उचित नहीं है। अपनी दीर्घ कालीन अभिज्ञता से वे समझ सके थे कि जगत् में प्रचलित धर्म-अधर्म का मानदण्ड सदा सत्य नहीं होता। वह सामाजिक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्थितिके संरक्षण के लिए आवश्यक विधान मात्र है। उन्होंने अनेक तथा-कथित धार्मिकों की मृत्यु के बाद स्पष्टरूप से देखा था कि उनकी आत्मा गहरे अन्धकार में दबी जा रही है और ऐसा व्यापार भी देखा कि जिस आदमी को जगत् में घृणा की दृष्टि से देखते थे मृत्यु के बाद वह शुभ्र ज्योति से अलङ्कृत होकर ऊपर आनन्द लोक की ओर चढ़ रहा है। एक मात्र सर्वदर्शी भगवान् के सिवा किसी में भी कर्म का विचार करने की क्षमता और अधिकार नहीं है।

ज्योतिजी ने अक्सर देखा है कि एक आत्मा एक ही समय में भिन्न भिन्न देह धारण कर विभिन्न कर्मफलों का भोग कर रहा हैं। पर वे देहाभिमानी सब जीव सदा आपस में दूसरे से परिचित अथवा सम्बद्ध हैं यह भी नहों कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में बहुत सी घटनाएँ उन्होंने कहीं हैं, यहां उनका उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत नहों हो रहा है।

सिद्ध योगी कायव्यूह कर एक साथ बहुत देहों की रचना कर अपने संचित कर्मो का थोड़े काल में भोग करते हें यह प्रसिद्ध बात है। किन्तु ज्योतिजी कहते थे कि उन्होंने जो सब कायव्यूह देखे वे योगी कृत नहों थे, वे प्राकृतिक नियम से उद्भूत थे। योगी जब काय-व्यूह करते हैं तब उनके प्रयोजक-चित्त विभिन्न देहों के संचालन के विषय में नेतृत्व करता है एवं विभिन्न देहों से किये गये कर्म अथवा भोग की स्मृति उस चित्त में आकर संचित होती है। वे सब विभिन्न देह परस्पर को ठीक ठीक पहिचान अथवा जान नहीं सकती, यह सत्य है।

ज्योतिजी ने जिन दृष्टान्तों का प्रदर्शन किया था उनमें भी इस मूल नियम का अनुसरण होता है। दोनों में पार्थक्य यह है कि योगी अपने संकल्प के प्रभाव से व्यूह रचना करते हैं एवं उनका नियन्त्रण भी उनकी इच्छा के अधीन होता है। किन्तु साधारण लोगों का काय-व्यूह, उनके संकल्प से नहीं होता, वह प्राकृतिक नियम से प्रयोजन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के अनुसार होता हैं। साधारण लोग अज्ञानी होने से संकल्प शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकते। यह हुई एक पक्ष की बात। पक्षान्तर में उन्होंने यह भी देखा कि एक ही देह में समय समय पर विभिन्न जीव वास करते हैं। देह जिस मूल जीव की है उसके साथ सम्बद्ध अथवा उसके आकर्षण से आकृष्ट होकर कोई जीव कभी कभी उस देह में अस्थायी रूप से अथवा दीर्घ काल के लिए वास करते हैं। धर्मशाला में जैसे यात्री आते है, कुछ समय तक रहते हैं और काम समाप्त कर चले जाते हैं, यह भी वैसा ही है। अवश्य देह के अधिकारी मूल जीव की बात अलग है। इस सम्बन्ध में भी विस्तृत विवेचन इस प्रसङ्ग में संभव नहीं है।

वस्तुतः ज्योतिजी के भीतर असाधारण शक्ति की अभिव्यक्ति हुई थी एवं इसी के कारण अनेक गण्यमान्य विशिष्ट व्यक्ति भी उनके सम्पर्क में आये थे। प्रसिद्ध नाटक-रचयिता और शाहित्यिक, 'अलौकिक रहस्य' के सम्पादक स्वर्गीय क्षीरोद प्रसाद विद्याविनोद जी ज्योतिजी की वाल्यावस्था से ही उन्हें जानते थे। ज्योतिजी की नाना प्रकार की अलौकिक शक्तियों के प्रभाव से वे अपने जीवन में उपकृत ही हुए थे। प्रसिद्ध धर्मवक्ता कुलदा प्रसाद मल्लिक की बात भी हम पहले कह चुके हैं।

ज्योतिजी के साथ दीर्घ काल के परिचय वश अक्सर अनेक विषयों में हमारा विवेचन हुआ था। उनमें से आध्यात्मिक जीवन के रहस्य को लेकर जो प्रसंग चले थे उनके सम्बन्ध में धारावाहिक रूप से संक्षिप्त भाषा में कुछ प्रकाश डालने की मैं चेष्टा कर रहा हूं।

ईश्वर तत्व सम्बन्धी आलोचना के सिलसिले में वे कहते थे, ''साधारण लोगों की इसके सम्बन्ध में कोई स्पष्ट धारणा ही नहीं है। वे सोचते हैं कि हम लोगों में प्रचलित ईश्वरवाद कुल-परम्परागत संस्कार मात्र है। ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में बहुतों का दृढ़ विश्वास नहीं है। उन लोगों का विश्वास है कि सारा व्रह्माण्ड स्वभाव से ही चल रहा है एवं स्वभाव ही इसका मूल है—इसका नियामक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कोई नहीं है। जैसे दिन के बाद रात्रि आती है एवं रात्रि के बाद फिर दिन का आविर्भाव होता है ठीक उसी प्रकार जन्म और मृत्यु का चक्र घूम रहा है। किन्तु यह धारणा ठीक नहीं है। मैंने अपने जीवन के अनुभव से ईश्वर के अस्तित्व के बहुत प्रमाण पाये हैं। इसलिए मैं इस लौकिक धारणा का समर्थन नहीं कर सकता। किन्तु ईश्वर हैं—इसका प्रमाण पाने पर ही सब कुछ नहीं हो जाता। यदि उन्हें भली-भाँति जानना हो तो उनके सहारे ही आगे बढ़ना चाहिये। प्रकृति का नियम अत्यन्त विचित्र है। प्रकृति का रहस्य खुले बिना उनको ठीक-ठीक समझा नहीं जा सकता एवं समझने पर भी कुछ फल नहीं होता। मनुष्यों की शक्ति का विकास जितना हो सकता है उतना तक ही मनुष्य का कर्तव्य है। किन्तु उसके बाद महाकृपा का लाभ आवश्यक है। महाकृपा के बिना पूर्णत्व में प्रवेश का अधिकार किसी का भी नहीं हो सकता।"

ज्योतिजी ने आगे भी कहा—हम जानते हैं कि मनुष्य का मन समय समय पर एक अनिर्वचनीय वस्तु को अलक्षित अवस्था में देख पाता है। उसी वस्तु का मनुष्य ईश्वर के नाम से वर्णन करता है एवं उनके चिन्तन अथवा भावना को तत्त्वकथा कहता है। वह अनिर्वचनीय वस्तु सत्य है या नहीं यह सभी प्रत्यक्ष नहीं कर सकते एवं बहुत से लोग प्रत्यक्ष करना चाहते भी नहीं। तत्त्वकथा के विवेचन से वह होता नहीं। उससे सिद्धान्त ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान में परिणत न होकर गरिमा में परिणत होता है।

मन जब निरालम्ब अवस्था में संसर्गशून्य हो कर ऊपर की ओर दौड़ता है, जब वह वास्तव में निराश्रय होता है, चारों ओर आश्रय देख नहीं पाता तब उस अनिर्वचनीय वस्तु की ओर स्वभावतः ही आकृष्ट हो पड़ता है। दिन भर तरङ्गों से चञ्चल नदी के ऊपर चलते चलते सन्ध्या समय परले पार के निकटवर्ती होने पर मन में जैसे एक आसन्न शान्ति का भाव उदित होता है उसके साथ पूर्वोक्त अवस्था का बहुत अंशों में सादृश्य है। जब मनुष्य के हृदय में नदी की लहरों की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तरह सैकड़ों घटनाओं से आघात होता है तब उसे एक अव्यक्त सत्ता का पता चलता है। प्रचलित भाषा में ईश्वर नाम देकर उस अव्यक्त स्वभाव को ही वह ओरों को समझाने की चेष्टा करता है।

प्रश्न—इस ईश्वरतत्त्व के साथ मनुष्य का वास्तविक सम्बन्ध क्या है? अपने अनुभव के अनुसार इस विषय में कुछ कुछ आलोचना कर सकें तो अच्छा हो।

ज्योतिजी—वैसा ही करूँगा। विभिन्न तत्त्वों के द्वारा इस मूल तत्त्व की ही आलोचना होगी। मैं ईश्वर को स्वतःसिद्ध ही मानता हूँ। साधारण लोग जिसे देख नहीं पाते, वह नहीं है ऐसा मान लेते हैं। किन्तु मन की इस तरह की वृत्ति ठीक नहीं है। क्योंकि हमारी देह में ऐसी बहुत सी वस्तुएं हैं जिन्हें हम कोई भी देख नहीं पाते। उनमें मन एक श्रेष्ठ पदार्थ है, किन्तु दिखाई न पड़ने पर भी वह है यह हम सब स्वीकार करते हैं। मन को स्वीकार कर लेने के बाद जो उसके संचालक अथवा द्रष्टा के रूप में बैठे हैं उन्हें स्वीकार न करें यह हो नहीं सकता। मन की स्वाधीन इच्छा के अनुसार कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं होता। जो मनकी पृष्ठभूमि में सूत्रधार के रूप में चुपचाप बैठे हैं उनको पहिचाने बिना मन की इच्छाशक्ति प्रबल होती नहीं एवं मन शून्य हो कर जल के बुल्ले के तुल्य लीन हो जाता है। जो मन के पीछे बैठे हैं वे क्रियाशील नहीं हैं—वे निष्क्रिय, सर्वदर्शी, केवल साक्षिस्वरूप हैं। वे अजर, अमर और परम सत्य हैं—सर्वदा अचल, अटल और स्थिर हैं, उनमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श कुछ भी नहीं है, पर यह स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि वे स्वयं क्रियाशील नहीं हैं फिर भी उनसे एक प्रकार के जीवों का आविर्भाव होता है जो सृष्टि और प्रलय करने में सहायता करते हैं। ये सब जीव, जीव होने पर भी, ईश्वरतुल्य हैं; इसीलिए ईश्वर के नाम से अभिहित होते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर इनमें श्रेष्ठ हैं। निष्काम, निष्क्रिय परम पिता की इच्छा से इच्छामय हो कर लीलामय के लीलारूप से ही यह विश्व ब्रह्माण्ड आविर्भूत हो रहा है। उसमें निरन्तर किसी अंश में सृष्टि हो रही है तो किसी अंश

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में लय हो रहा है। यह सृष्टि-संहार अनादि काल से ही चलता आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। इस विराट व्यापार के चालक जीव व्यवहार-जगत् में ईश्वर कहे जाते हैं। विभिन्न धर्मो में इनके भिन्न भिन्न नाम हैं। अनेक लोग अज्ञान वश इस ईश्वरभाव को ही चरम भाव मान बैठते हैं और उसी में मग्न रहते हैं। केवल यही नहीं वे लोग दूसरों को भी अपने विश्वास में खींच लाने की चेष्टा करते हैं। किन्तु मैं समझता हूँ कि निष्क्रिय पिता का निष्क्रिय पुत्र होने के पक्ष में ईश्वरभाव पर्याप्त नहीं है। मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव से समझ सका हूँ कि ऐसा एक गम्भीर कौशल है जो किसी तरह भी व्यक्त नहीं किया जा सकता। विश्व के प्रत्येक अणु-परमाणु में पूर्णरूप से ही वह विराजमान है। गुरु उसे शिष्य को किसी तरह समझा नहीं सकते। ज्ञानवान् ज्ञान के द्वारा उसे पकड़ नहीं पाते। कर्मी जन कर्म के द्वारा उसे बाध्य नहीं कर सकते। ये सब उपाय पीछे रहकर केवल सहायता भर करते हैं—इनके माध्यम से पीछे लौटने पर पीछे के प्रकाश का केवल आभास पाया जाता है, किन्तु इनके द्वारा उसको पकड़ कर रखा नहीं जा सकता। यदि उसको पकड़ना हो तो अपने को कुछ न कुछ करना पड़ता है अर्थात् किसी न किसी उपाय के अवलम्बन से अपने को मन के पीछे दौड़ना पड़ता है, क्योंकि इससे मनोयोग आयत्त होने पर मन अपने पीछे के निष्क्रय प्रकाश को (आत्मा को) सदा ही देख पाता है। क्योंकि वह सदा ही मनके अत्यन्त समीप में स्थित रहता है। जो इस मन को निश्चल कर एवं उस प्रकाश को आलोकित कर बोधरूप का रक्षण कर सकते हैं वे ही नमस्करणीय है, वे ही वन्द्य हैं एवं वे ही वास्तव में 'गुरु' नाम के योग्य पुरुष हैं।

ज्योतिजीने कहा, जगत् में हम नाना प्रकार की विभूतियाँ देखते हैं। नैतिक जीवन में भगवत्-शक्ति से प्रेरित होकर नाना प्रकार की विभूतियों का आविर्भाव होता है। जैसे सो रहा बच्चा नींद में बिना जाने पूर्वस्मृति के उद्दीपन के कारण कभी हँसता है और कभी रोता है, किन्तु बड़ा होने पर धीरे धीरे अन्य विषयों में भटकने के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कारण यह सब भूल जाता है, किसी तरह भी इसे मन में संजोये रख नहीं सकता, उसी तरह हम लोगों में भी अनेक साधक हैं जो जीवन में नाना प्रकार की विभूतियों का अवलम्बन कर समय व्यतीत करते हैं। मेरी अल्प बुद्धिसे ऐसा प्रतीत होता है कि विभूतियाँ सत्य होने पर भी कुछ विशेष मूल्यवान् वस्तु नहीं हैं, क्योंकि निष्क्रिय परमपुरुष विभूति नहीं हैं—वे स्थिर, धीर और शान्त हैं। बच्चे के विभूति-दर्शन से ज्ञात होता है कि विभूतियाँ कभी स्थायी हो नहीं सकतीं। यदि किसी के भीतर उनका विकास हो तो उन्हें प्रयत्नपूर्वक छिपा रखना उचित है।

मनुष्य के जीवन का मूल्य बहुत अधिक है उसको स्वेच्छाचार में छोड़ देना उचित नहीं है। जिससे सत्य वस्तु का पता लगे और उसके निकट पहुँचा जाय, उस उपाय का अवलम्बन करना आवश्यक है। एकमात्र मनुष्य ही यह कर सकता है। अन्य कोई भी जीव इसे कर नहीं सकता। मनुष्य-जीवन अति सुन्दर और सुखमय है, विधाता ने अपनी पवित्रता के कणामात्र से उसका निर्माण किया है। उस पवित्र कणामात्र का आश्रय कर मनुष्य प्रबल इच्छा को समझ सकता है। इच्छामय के साथ रहना ही अल्प इच्छा का स्वभाव है। अल्प इच्छा के महेच्छा के साथ एकाकार हो जाने पर किसी विषय का अभावज्ञान नहीं रहता तब पूर्ण स्वाधीनता-लाभ से मनुष्य पूर्ण आनन्द का अधिकारी होता है। यदि इतनी दूर तक अग्रसर होना अभीष्ट हो तो मनुष्य को नाना प्रकार की अग्निपरीक्षाओं के मध्य से चलना पड़ता है। जब मनुष्य अपनी क्षुद्र इच्छा को प्रबल इच्छा के ऊपर आन्तरिकभाव से अर्पित कर देने में समर्थ होता है तब सब प्रकार की विघ्नबाधाएँ हट जाती हैं। निष्काम, निष्क्रिय भाव की ओर लक्ष्य रखकर जीवन-पथपर आगे बढ़ने पर वास्तविक नित्य जीवन-लाभ कर धन्य हुआ जाता है। किन्तु यदि अपनी अहन्ता के ऊपर दृष्टि पड़ती हो एवं वही प्रधान होकर दिखाई देती हो तो नाना प्रकार के ऐश्वर्यों का उदय होता है जो मनुष्य को आराम और स्वच्छन्दता प्रदान कर उसके मनुष्यत्वको धोखा देकर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निकाल ले जाते हैं। अहङ्कार के ऊपर धर्म-जीवन प्रतिष्ठित नहीं हो सकता।

ज्योतिजी कहते थे, यदि साधना करनी हो तो मनको ध्यानस्थ रखना चाहिए। ध्यान का मुख्य स्थान हृदय है। गुरु के उपदेश का अनुसरण कर शब्द, ज्योति और रूप के अनुभव के लिए प्रयत्न करना आवश्यक है। शब्द की साधना करते करते ऐसी एक अवस्था का आविर्भाव होता है जिसमें शब्द की अपरोक्ष अनुभूति की प्राप्ति होती है। यह लौकिक शब्द नहीं है, यह वह विश्वव्यापी शब्द है जो जीव के हृदय से उत्पन्न होकर विश्व के समस्त अणु-परमाणु में व्याप्त रहता है। शब्द को धारणा द्वारा स्वायत्त कर सकने पर शब्द की सिद्धि प्राप्त होती है। उस समय शब्द में तन्मयता के साथ मग्न हो सकने पर अर्थात् समग्र मन को औरों से हटाकर शब्द में लीन कर सकने पर एक अद्भुत और विशाल ज्योति का अनुभव होता है। शब्द जैसे सर्वव्यापक है, समग्र विश्व में सर्वत्र प्रसारित रहता है, वह ज्योति भी वैसे ही सर्वव्यापक है। शब्द और ज्योति का मूल साधन ध्यान के सिवा और कुछ नहीं है। अभ्यास करते करते ध्यान गाढ़ होने पर शब्द और ज्योति ये दोनों वस्तुएँ आयत्त होती हैं। इन दोनों की एक नित्य अवस्था है जो स्वयं पूर्ण ब्रह्मरूप है। नित्य शब्द शब्द-ब्रह्म के नाम से और नित्य ज्योति ब्रह्मज्योति के नाम से साधकसम्प्रदाय में प्रसिद्ध है। शब्द-ब्रह्म नाम नहीं है और ज्योतिब्रह्म रूप नहीं हैं यह ध्यान में रखना होगा। साधक उनमें मग्न रहता है। यही एकमात्र चैतन्यस्वरूप है—शुद्ध अहं बोध का भी स्वरूप यही है। इन दोनों में एक साथ डूब कर रहा नहीं जा सकता। जब एक में डूबा जा सकता है तब मन स्थिर होता है। शब्द और ज्योति का ध्यान भली भाँति समझ में आने योग्य होने पर भी उससे साधना की पूर्णता नहीं होती। वह साधना का मार्गमात्र है। शब्द और ज्योति की साधना समाप्त कर रूप की साधना में प्रवृत्त होना चाहिए। साधक का मन ही कल्पना के अनुसार रूप की सृष्टि करता है। जिसकी जिसमें रुचि अथवा निष्ठा हो उसके लिये वही रूप

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

श्रेष्ठ गिना जाता है। रूप अथवा वस्तु की सृष्टि शब्दब्रह्म से होती है या ज्योतिब्रह्म से होती है। शब्द से जो रचना होती है वह निम्न स्तर की रचना है। मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, पेड़-पौधे आदि निम्न स्तर की रचनाएँ हैं। ज्योति-ब्रह्म से मन जिस सृष्टि का विकास करता है वह उच्चस्तर की है। ब्रह्मादि देवगण इस उच्चस्तर की सृष्टि के अन्तर्गत हैं। साधक साधना के द्वारा पूर्णत्व-लाभ करने पर इन सब सृष्टियों का अधिकार प्राप्त करता है। यहीं पर साधना की सार्थकता स्वीकार करनी चाहिए।

किसी साधना के द्वारा शब्द के आयत्त होने पर भी ज्योति अथवा रूप आयत्त होते नहीं, किन्तु यह आवश्यक है। गुरु का उपदेश, नैतिक जीवन का उत्कर्ष चाहे जिस किसी उपाय से हो एक को आयत्त कर सकने पर उसके द्वारा परमार्थ के प्राप्त होने की आशा होती है।

ज्योतिजी कहते थे, साधन-धारा पृथक् पृथक् होने पर भी सबको अन्त में एक ही स्थान में जाना पड़ता है। भगवत्साधना से सिद्धि प्राप्त होने पर भगवान् के साथ मिलन होता है। वास्तविक निर्वाण अथवा मुक्ति इसी का नामान्तर है। यह सिद्ध अवस्था होने पर भी इसमें ऐसी एक वस्तु है जो चारों ओर अन्वेषण करके भी प्राप्त नहीं हो सकती। इसीको कृपा कहते हैं।

कृपा का वास्तविक कारण क्या है यह खोज निकालना मनुष्य के लिए कठिन है। नीति और अहिंसा के पथ पर चलते हुए सदा ही कृपा की प्रतीक्षा में रहना चाहिये। ऐसा करने पर कभी न कभी आत्मतत्त्व का पता प्राप्त होने की आशा रहती है। योगावस्था के बाद भी अवस्था है। किन्तु उसके सम्बन्ध में कोई आलोचना हो नहीं सकती। वह साधक की अपनी वस्तु है।

साधना की बात सुन कर बहुतों के मन में ऐसा खयाल आ सकता है कि सत्य की प्राप्ति वास्तव में कठिन काम है। ऐसा मन में आना स्वाभाविक है, सत्य का अन्वेषण अत्यन्त कठिन काम है यह भी सत्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। पर इसमें सन्देह नहीं कि सत्य के लिए प्रचुर व्याकुलता उत्पन्न होने पर सत्य प्राप्ति अवश्य ही होगी। केवल सुख के लिए आकाङ्क्षा प्रकट करने पर कोई फल नहीं होता। सत्य के लिए हृदय व्याकुल होने पर चारों ओर से मन और हृदय को खींच लाकर एकमात्र उसी की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना आवश्यक है। गुरु जागतिक दृष्टि से चाहे कोई भी क्यों न हों शरीर कदापि गुरु नहीं हो सकता। अपने विवेक और लक्ष्य को ठीक रखकर जिस किसी शरीर का अवलम्बन किया जाय उसी में अन्तर्यामी आत्मा सब विषयों के केन्द्र बन कर हम लोगों का मङ्गल अवश्य करेंगे ही। जैसे देवप्रतिमा में देवता की संनिधि अथवा अधिष्ठान किया जाता है ठीक वैसे ही गुरु को निमित्त बना कर हम लोगों को अपने हृदय का गठन करना चाहिये। उसके पश्चात् जैसे-जैसे हमारे हृदय की स्फूर्ति होती रहेगी वैसे-वैसे हमारे आत्माकी उन्नति होती रहेगी। क्रमशः इसी तरह चलते-चलते शरीर और मन निर्मल होंगे, सत्त्वगुण की वृद्धि होगी एवं भगवान् के लिए व्याकुलता सम्पूर्ण हृदय में अधिकार कर बैठेगी। तभी वास्तविक इष्ट गुरु आकर दर्शन देंगे, उनके दर्शनों की प्राप्ति ईश्वरदर्शनोंके तुल्य है।

यहाँ तक पहले जो-जो मैंने कहा है उससे इस सम्बन्ध में कुछ-कुछ धारणा हो सकती है। यह अत्यन्त सुख की अवस्था है। बोध इसका स्वरूप है। मानव भाषा में इसे प्रकट नहीं किया जा सकता।

साधक को सत् और असत् के विवेक से सम्पन्न हो कर नितान्त सरलता से अभ्यासयोग का अवलम्बन लेकर चलना चाहिये। तृण से भी अपने को नीच मानना चाहिये, वृक्ष से बढ़कर सहन शक्ति प्राप्त करनी चाहिये। व्यक्तिगत अभिमान का त्याग करना चाहिये एवं और लोगों को श्रद्धा और संमान की दृष्टि से देखना चाहिये। औरों के दोष दर्शन से विरत रहना चाहिये। मन में इस प्रकार के भावों के दृढरूप से प्रतिष्ठित होने पर अभ्यासयोग का आश्रय लेकर निरन्तर भगवान् के नाम और गुणों का कीर्तन करना चाहिये। इस प्रकार कर सकने पर जगत् की प्रत्येक वस्तु में आत्मचैतन्य का दर्शन कर पूर्णता की ओर अग्रसर हो

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सकेंगे। तब वह पूर्णब्रह्म स्वयं गुरुके रूप में दर्शन देकर पूर्णता की ओर हम लोगों को खींच लेंगे। साधारणतः लोग केवल हा-हाकार करते हैं, अभ्यासयोगकी कठिनाइयों के बीच गुजरना नहीं चाहते। प्राणायाम आदि नाना प्रकार की योगक्रियाएँ साधक-संप्रदाय में प्रचलित हैं। उन सब क्रियाओं के द्वारा यथार्थ उन्नति के पथ में कुछ सहायता अवश्य ही होती है।

किन्तु यदि विराट् चैतन्य का समकक्ष होना हो तो एकमात्र उनकी कृपा के सिवा और कोई उपाय नहीं है। प्राणायाम के द्वारा योगक्रिया से भी अनाहत ध्वनि और ज्योति का दर्शन होता है, किन्तु नैतिक जीवन का गठन न कर सकने पर भगवान् की कृपा-प्राप्ति नहीं होती।

पूर्वोक्त अभ्यासयोग और ब्रह्मचर्य आदि जिस किसी एक आश्रम का आश्रयण कर जीवन के पथ पर चलना उचित है। आपाततः यही नैतिक जीवन का बहिरंग प्रतीत हो सकता है। किन्तु इसके भीतर बहुत रहस्य निहित हैं।

जीवात्मा की वास्तविक स्वाधीनता कहाँ है, इस संबन्ध में वे कहते थे—ईश्वर सर्वज्ञ है और मानवात्मा स्वाधीन है—ये दोनों बातें सत्य हैं। ईश्वर यदि सर्वज्ञ न होते तो इस विराट् सृष्टि में ऐसी सुन्दर श्रृङ्खला दिखाई न देती। हमने कर्म और कर्मफल का विचार कर सब वस्तुओंको जाना यों हम मन को समझाते हैं, हम एक व्यक्ति के समीप से अनजाने आशीर्वादस्वरूप शान्ति प्राप्त करते हैं। कर्मविज्ञान के द्वारा ही उसे कर्मफल समझने भी चेष्टा करते हैं। किन्तु वास्तव में एक व्यक्ति अर्थात् ईश्वर कर्म करता है इसीलिए तो हम कर्म करते हैं, अन्यथा कर्म करके आनन्द पाते नहीं। उनके मध्य में रहकर ही जीवात्मा स्वाधीन है। बाह्य जगत् में और अन्तर्जगत् में जो कुछ हुआ है, हो रहा है और होगा उसे वे सब जानते हैं, केवल जानते ही हों सा बात नहीं उनके मध्य में ही सब कुछ रहता है। भूत-भविष्यत्-वर्तमान उनमें नित्य विद्यमान हैं। ईश्वर के ज्ञान में यह जगत् देश

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और कालके अधीनरूप से चल रहा है। ज्ञाता और ज्ञेय के अच्छेद्य सम्बन्ध के बिना ज्ञान निष्पन्न नहीं होता। इसलिए यह हो ही नहीं सकता कि ज्ञेय न हो और ज्ञाता हो। इसी से ज्ञात होता है—ईश्वर ज्ञानमय हैं, उनकी ज्ञात वस्तु भी उनके ज्ञान के एक छोर से संयुक्त रह कर सदा ही परिवर्तित हो रही है। इस प्रकार जीवात्मा और परमात्मा के मध्य अच्छेद्य सम्बन्ध रहने पर भी जीवात्मा ग्यारह इन्द्रियों के सहयोग से मन को कर्ता बना कर, कर्म के परमाणुओं को इकट्ठा कर, 'तुम्हारा' 'मेरा' भाव लेकर सर्वज्ञानमय के मध्यमें खेल कर रहे हैं। जैसे वायु के आघात से अथवा तट से ढेला फैंकने के कारण जल में तरङ्ग पैदा होती है। वही तरङ्ग फिर पाट पाकर अर्थात् इन्द्रियों की संगति में पड़कर प्रबल आकार धारण करती है। इसी तरह कर्म और कर्मफल की सृष्टि होती है। इसलिए कोई जीवात्मा किसी के मध्य बद्ध न होकर भी घूम फिर आता है। ईश्वर में जीवात्मा जिस प्रकार अभिन्नरूप से है उसी प्रकार जीवात्मा भी इन्द्रियों में भासमान है। किन्तु इन्द्रियाँ अन्य किसी के ऊपर न रह सकने के कारण देह का आश्रयण करके रहती हैं। देह नश्वर, क्षणस्थायी है; जब देह चली जाती है तब उस देह से अनुष्ठित सब कर्मों के फल जोंक की तरह जीवात्मा को चिपटकर पकड़े रहते हैं। इसके बाद जब तक विवेक मनको धोखा देकर जीवात्मा को स्वरूप में न पहुँचा सके तब तक फिर रक्षा नहीं।

ज्योतिजी से प्रश्न किया गया था कि जीवात्मा कर्मसंस्कार-युक्त इन्द्रियों को देह का आश्रय न देकर मुक्त नहीं कर दे सकता है क्या? और देह ही कहाँ से आती है? जीवात्मा को स्वरूप में न पहुँचा सकने पर शान्ति की संभावना नहीं है। यहाँ पर स्वरूप में पहुँचाना व्यापार क्या है?

ज्योतिजी ने कहा था—"जीवात्मा को स्वरूप में पहुँचना चाहिये, इसका तात्पर्य परमेश्वर के साथ जीवात्मा का मिल जाना नहीं है, किन्तु परमेश्वर की समानता प्राप्त करना है। यह साधना के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बिना हो नहीं सकता। जीवात्मा की स्वयं बचे रहने की प्रबल इच्छा के तरङ्ग से देह की उत्पत्ति होती है। साधना किये बिना प्रकृति के हाथ से छुटकारा प्राप्त नहीं किया जा सकता एवं इसी लिए आत्म-ज्ञान-लाभ भी नहीं किया जा सकता। मृत्यु के समय जीवन के सब भले बुरे कर्मोंके संस्कार आकर उपस्थित होते हैं एवं प्रकृति जीव को मोहावृत कर फिर उसे साधना की प्रतिकूल अवस्था में खींच ले जाना चाहती है। एकमात्र साधनासम्पन्न व्यक्ति ही प्रकृति की वञ्चना के हाथ को हटाकर निकल जा सकता है दूसरा नहीं। प्रकृति मनुष्य को भुलावे में डालकर असन्मार्ग में ले जाती है। इन्द्रिय-धर्मों का अनुगमन करने के फलस्वरूप जन्ममृत्युरूप दुःखभोग प्राप्त होता है एवं इन्द्रियों के अतीत आत्मा से व्यवधान होता है। साधना के कौशल से मनुष्य इन्द्रियों के धर्मों से हट कर रहने का मार्ग पाता है और प्रकृति की रीति-नीति समझ सकता है। साधना के लिए गुरु की आवश्यकता होती है। तब देहात्मबुद्धि छूट जाती है एवं ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति के पथ पर मनुष्य खड़ा हो सकता है। उस समय मनुष्य साक्षिरूप से निर्विकार रह कर इन्द्रियों के कार्य का पर्यवेक्षण कर सकता है।

प्रश्न—जीवात्मा यदि साधु ही है तब उसकी भी बचे रहने की इच्छा कैसे होती है। स्वाधीन आत्मा क्या इन्द्रिय आदि को ठेल कर मुक्त नहीं हो सकता ?

ज्योतिजी—स्वाधीनता शब्द से सब भूतों के बीच रहकर स्वाधी-नता यही समझना चाहिये। जल में बरफ तैर कर घूमने पर भी जल में वह स्वाधीन है यह कह सकते हैं, किन्तु स्वाधीन होने के कारण ही वह सूर्य के ताप से गलेगा नहीं यह नहीं कहा जा सकता। पहले ही मैं कह चुका हूँ कि ज्ञाता की ज्ञात वस्तु भी उनके एक पार्श्व में रहकर सदा ही परिवर्तित हो रही है। यह वस्तु जीवात्मा है। उसका परिवर्तन जो कुछ होता है वह उनके अनजाने में नहीं होता, जानकारी में ही होता है। यही उनकी प्रधान स्वाधीनता है। किन्तु जो विशाल और सर्वज्ञानमय हैं वे सदा ही एक ही भाव से हैं। ग्यारह इन्द्रियाँ जैसे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जीवात्मा को आकर्षण कर पकड़ती हैं वैसे विशाल चैतन्य का स्पर्श नहीं कर सकतीं।

जीवात्मा ईश्वर की तरङ्ग है। इन्द्रियाँ जीवात्मा की तरङ्ग हैं। इसीलिए जीवात्मा अपनी तरङ्गों को लेकर बरफ़ के तुल्य ईश्वर-सत्ता में तैर रहे हैं एवं इस विश्व ब्रह्माण्ड में साधना द्वारा लीला कर रहे हैं। साधना द्वारा इन्द्रियों का अतिक्रम कर सकने पर शान्त हो अनन्त समुद्र में तैर सकते हैं। साधारण मनुष्यों से यदि पूछा जाय कि जीव की आत्मा और उसके अतिरिक्त विराट् चैतन्यमय परमात्मा कैसे हैं, उस सम्बन्ध में उनका कोई अनुभव कैसे होगा ?

प्रश्न—नमक के खिलौने को यदि समुद्र के तट पर बैठा दिया जाय तो वह समुद्र के जल का स्वाद जान नहीं सकता एवं समुद्र के सम्बन्ध में कुछ कह भी नहीं सकता। साधारण मनुष्य भी जब तक चैतन्य समुद्र के पार खड़ा रहेगा तब तक कुछ भी समझ नहीं सकेगा। उसमें डूबे बिना कुछ समझने का उपाय नहीं है। साधारण मनुष्य समय समय पर अवश्य समझ सकता है कि वह जल में मछली की तरह एक व्यापक सत्ता में डूबा है, संस्कारगत ज्ञान द्वारा यह जाना जा सकता है। जब नेत्र खोल कर आकाश पाताल की ओर ताका जाता है तब मृत्यु की बात याद आती है—तब स्वभावतः ही एक चैतन्यमय विराट् वस्तु की बात का स्मरण होता है। किन्तु उस समुद्रपार में जो नमक का खिलौना बैठा है उसको कोई ज्ञान नहीं होता।

ज्योतिजी—यह सच है, लोग समझना नहीं चाहते, इसीलिए समझ नहीं सकते। मोह के आवरण से आवृत रह कर सब नमक के खिलौने बने हैं। जीवात्मा और परमात्मा के संबन्ध का यदि निर्णय करना हो तो योगयुक्त होना आवश्यक है, केवल विचार और बुद्धि द्वारा यह समझा नहीं जायगा और उपलब्धि भी नहीं होगी।

योगयुक्त अवस्था की बात पहले कुछ कह चुका हूँ।

हमारा मन यदि किसी विषय में एकाग्र होता है तो शरीर में कुछ कम्पन अनुभूत होता है। तब खिलौना बना हुआ वह क्या बन रहा है

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यह नहीं समझ पाता। उसको मन जिस ओर ले जाता है वह उसी ओर चलता है। किन्तु युक्त अवस्था में ऐसा नहीं हो सकता। उस समय मन के ऊपर अपना एकाधिकार रहता है। मन अपने को मोह के आवेश में फेंक कर कठपुतली की तरह चला नहीं सकता, मन मन्न के ही अधीन रहता है, स्वसत्ता का अनुभव कर उसमें युक्त रहता है। यही सत्सत्ता है। उसे चिपट कर पकड़ रखने के उपाय को योग कहा जाता है। योग मनुष्य का स्वाभाविक धर्म नहीं है। किसी विषय में विशेष प्रयोजन के बिना योग नहीं होता। इसलिए अन्यान्य विषयों का त्यागकर केवल आत्मचैतन्ययुक्त होने को ही योगयुक्त कहते हैं। इससे भिन्न विषय के योग को केवल मनोयोग कहा जाता है। योग-युक्त अवस्था प्राप्त किये बिना आत्मा और परमात्मा की योगावस्था का प्रत्यक्ष अनुभव किया नहीं जा सकता।

उन्होंने स्वयं किस प्रकार से युक्त अवस्था की यह उपलब्धि प्राप्त की थी यह बात ज्योतिजी से पूछने पर उन्होंने कहा—मैं इस प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा करूँगा, किन्तु मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि मनुष्य के अव्यक्त विषय पर किस प्रकार भाषा द्वारा प्रकाश डाला जाय। एक दिन मैंने व्याकुल होकर इस विषय में बहुत विचार किया था उसके फलस्वरूप कुछ कुछ सत्यज्ञान प्राप्त कर सका हूँ।

एक दिन मैं सूक्ष्मदेह से आकाशमण्डल में घूमते घूमते किसी एक स्थान पर खड़ा होकर उसके अन्दर रमणीय वृक्ष, लता आदि देख रहा था। देखते देखते सहसा मुझे मालूम पड़ा कि स्थूल सूक्ष्म कुछ भी नहीं है—एकमात्र विराट् चैतन्यस्वरूप साक्षीमात्र ही है, एकदम पूर्ण अथवा बिन्दुरूप में। स्थूल और सूक्ष्म से पृथक्, विराट् चैतन्य में ही स्थूल देह पड़ी थी, सूक्ष्म देह अग्नि की चिनगारी के तुल्य इधर उधर घूम कर वृक्षराजि और बगीचे की शोभा देख रही थी। इस अवस्था में रह कर ही अनुसन्धित्सु होकर मैंने जीवात्मा और परमात्मा के व्यापार की उपलब्धि की थी। इस व्यापार को समझना बहुत कठिन है, जितना सम्भव हो प्रत्येक को ही स्वयं अपने से समझ लेना चाहिये।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रश्न—आपने बहुत बार कहा है कि सूक्ष्म से ही स्थूल को देखा जा सकता है एवं दोनों में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसके साथ इस समय जो कुछ आपने कहा उसका अन्तर अधिक स्पष्ट कर कहने की कृपा करें।

ज्योतिजी—अन्तर यह है कि सूक्ष्म से यद्यपि स्थूल देखा जाता है, यद्यपि दोनों में घनिष्ठ संबन्ध भी है तथापि सूक्ष्म शरीर अवयव रहित होकर पूर्ण बोध लेकर, पृथक् होकर कुछ देख नहीं पाता। एकमात्र पूर्ण की कृपा प्राप्त करने पर यह हो सकता है।

प्रश्न—योगी क्या कुछ देख नहीं पाते। यदि ऐसा ही हो, तो योग-युक्त हुए बिना जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध का निर्णय नहीं किया जा सकता, यह आपने क्यों कहा?

ज्योतिजी—मैंने क्यों कहा, यह विचारणीय विषय है। जिस तरह से भी हो हमें एक रास्ते में अवश्य ही खड़ा होना चाहिये, किन्तु रास्ते पर खड़े होने पर ही हम लोग सब देख पायेंगे इसका भी कोई कारण नहीं है। योगियों के अलग अलग स्तर हैं, उन्हीं सब स्तरों में वे विचरण कर सकते हैं। यह सब होने पर भी पूर्ण होकर पूर्णत्व में प्रतिष्ठित होना भगवान् की कृपा के बिना दूसरे उपाय से हो सकता है ऐसी मेरी धारणा नहीं है। जो पूर्ण वस्तु हैं वे ही स्वयं ब्रह्म हैं और जो सृष्ट हैं वे ब्रह्माणी हैं। जो पूर्णवस्तु हैं वे ही विष्णु हैं, और जो सृष्ट हैं वे वैष्णवी हैं। जो पूर्णवस्तु हैं वे महेश हैं किन्तु सृष्ट वस्तु महेश्वरी हैं। जो मैंने कहा, उसीसे चिन्तन कर सकने पर बहुत से प्रश्नों का समाधान हो जायगा। मन क्या है यह ठीक ठीक जानने में बहुत कष्ट होता है और जाने बिना किसी रहस्य का समाधान नहीं होता। पर यह सत्य है कि मन आत्मा नहीं है, क्योंकि मनःशून्य अवस्था में भी मनुष्य जीवित रह सकता है। साधना करने पर प्रत्येक ही यह सत्य है या नहीं इसका परीक्षण कर सकते हैं।

प्रश्न—साधना कौन करता है—जीवात्मा अथवा इन्द्रियाँ?

ज्योतिजी—जीवात्मा और इन्द्रियों के मध्य में ज्ञानमय 'अहम्'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रहता है। वह अपने अहन्त्व को दूर करने के लिए साधना करता है। जिस समय 'अहम्' पूर्णत्व-लाभ करेगा, जब विराट् 'अहम्' अपने को प्रकट करेगा तब कितनी ही इन्द्रियों का अधिष्ठाता बहुरूपी 'अहम्' रहेगा नहीं। इन्द्रियसंयुक्त 'अहम्' वस्तुतः काल्पनिक है। उसने सब इन्द्रियों को साथ लेकर जीवात्मा को विपत्ति में डाल रखा है। यह 'अहम्' ही अर्थात् इन्द्रियसंयुक्त अहं ही जागतिक भाषा में मन कहा जाता है। मन चारों ओर धोखे से ही उन सब चतुराइयों को भली भाँति गुप्त रखता है। यदि सूक्ष्म देह का अवलम्बन किया जा सके तो मन के सब धोखे पकड़ में आ सकते हैं। इस सूक्ष्म देह में मन की चतुराई सहज में ही जानी जा सकती है। सच बात कहने में संकोच क्या है, मैंने स्वयं हम लोगों द्वारा कल्पित "मैं" के अनेक धोखे सूक्ष्म देह में अवस्थित होकर अपने नेत्रों से देखे हैं।

आगे ज्योतिजी ने एक व्यक्तिगत घटना का उल्लेख किया। जब वह घटना घटी थी तब वे हम लोगों के मकान में ही रहते थे। यह सन् १९१६ ई० की ७ वीं फरवरी की बात है। ज्योतिजी बड़े अच्छे चिकित्सक थे—होमियोपैथिक चिकित्सा में उनका चिर काल का अनुभव था। स्थानीय एक अनाथ आश्रम में वे प्रतिदिन चिकित्सक के रूप में उपस्थित होते थे एवं कई एक घन्टे यथाशक्ति दीन और दुःखी रोगियों की सेवा कर उनको रोगमुक्त करने की चेष्टा करते थे। ज्योतिजी ने अपने अनुभव के वर्णन के सिलसिले में कहा।

मैं जिस घटना का वर्णन करूँगा उसके साथ चिकित्सावृत्ति का कुछ संबन्ध है। चिकित्सा यदि करनी हो तो दैहिक व्यापार का ज्ञान रहना आवश्यक है। शरीर के किस स्थान में कौन यन्त्र है एवं किस इन्द्रिय की विशेष क्रिया है इसका रहस्य आध्यात्मिक दृष्टि से जानने के लिए मुझे अक्सर बड़ी इच्छा होती थी। आश्रम में रोगियों के मध्य एक महिला मेरे तत्त्वावधान में रह कर ओषधि खाती थी। एक दिन उनको लेकर दैहिक यन्त्र के ऊपर षट्चक्र की क्रिया और प्रभाव जानने का प्रयत्न कर मेरा मानसिक भाव मलिन हो गया

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अर्थात् षट्चक्र भेद करने में समर्थ न होकर उसमें ही रुक जाने का उपक्रम हुआ। यह कहना अनावश्यक है कि षट्चक्र भेद के प्रथम स्तर में ही काममयी कामिनी का दर्शन होता है। प्रथम स्तर किसे कहते हैं, यह प्रश्न कोई-कोई कर सकते हैं। इसके उत्तर में मैं कहना चाहता हूँ कि किसी साधारण मनुष्य का मन यदि किसी वस्तु में रम जाय तो वही वस्तु जो उसका आकर्षण कर रखती है उसीको षट्चक्र के मध्य से देखने पर प्रथम स्तर की अवस्था कहा जा सकता है। इस स्तर में पुरुष काममयी कामिनी के और स्त्रियाँ मनोहर पुरुष के दर्शन प्राप्त करती हैं? सांसारिक वासना का ही यह एक स्वरूप है। बच्चों में सांसारिक वासना नहीं है, इसलिए उनका मन उस स्तर में प्रबल आकार धारण नहीं कर सकता, किन्तु ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी एवं युवक और युवतियों का मन पहले उसी स्तर में रहता है। किन्तु पुरुषों एवं स्त्रियों की क्रिया में बड़ा अन्तर है। स्त्रियों का मन यदि वहाँ रहे तो उनका विकास होता है किन्तु पुरुषों का मन वहाँ स्थायी रहें तो अनन्त नरक के सिवा दूसरा फल हो नहीं सकता। मैं गवेषणा कर इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ। तथा उसी समय स्थूलरूप से दोनों में पार्थक्य दिखाई देता है। इस सम्बन्ध को क्रम से विशद कर कहता हूँ। अस्तु, यद्यपि मेरा षट्चक्र की आलोचना का कोई प्रयोजन नहीं था तथापि परिस्थिति के अनुसार मन उसके फेर में आ गया। उस समय मेरा मन अत्यन्त क्षुब्ध हो पड़ा, किन्तु विवेक मेरे साथ था, इसलिए विवेक की सहायता से मैं बच गया। मन के भीतर उस क्षण जिसं पाप भाव ने प्रवेश किया था उसका प्रतीकार मुझे दिखाई नहीं पड़ा। जो हो, इस तरह कई दिन कट गये। तब मैंने कोई बहाना बना कर उस स्त्री की चिकित्सा करना छोड़ दिया। चिकित्सा छोड़ देने पर भी क्रमशः गहरे निराश्रय भाव ने आकर मुझे उदास कर डाला। इस बार दयापरवश होकर पूर्वोक्त महापुरुष एक दिन सूक्ष्म देह से मेरे निकट उपस्थित हुए एवं उन्होंने मुझे एक ब्रह्मचर्य चित्र दिखलाया। उसके बाद मुझे एक खेल के मैदान में अपने साथ ले चले।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तब सन्ध्या हो चुकी थी, खेल समाप्त हो गया था, दोनों दल खेल का मैदान छोड़ कर चले जा रहे थे। महापुरुष मुझे उस मैदान में छोड़कर सहसा अन्तर्हित हो गये। तब मैं जिस मार्ग से महापुरुष के साथ मैदान तक गया था उस मार्ग से न आकर दूसरे मार्ग से आने लगा। कुछ दूर आने के बाद ही मार्ग में स्थूलकाय एक साधु के साथ भेंट हुई। उन्होंने कहा, "इस मार्ग से तुम्हें जाने नहीं दूंगा, यहाँ से कुछ दूर इस रास्ते को पकड़ कर आगे बढने पर ही एक पञ्चमकार का साधक दिखाई देगा। उसकी प्रणाली से साधना करने पर ईश्वर के दर्शन प्राप्त होते हैं और उनके साथ वार्तालाप किया जा सकता है।" मैंने कह डाला, बाबाजी, भगवान् के किस उपाय से दर्शन किये जाते हैं ? यह तुम्हारे मस्तिष्क की विकृति है।" संन्यासी क्रोध से अधीर होकर मेरे ऊपर प्रहार करने को उद्यत हुए। फिर मैंने कहा "ईश्वर नित्य चैतन्यस्वरूप हैं, उनको एकमात्र उनकी कृपा के सिवा दूसरे उपाय से देखा भी नहीं जा सकता, पाया भी नहीं जा सकता। वे और मैं पृथक् नहीं, वे बड़े हैं, मैं छोटा हूं किन्तु दोनों में एक ही वस्तु हैं। वे जो वस्तु है, मैं भी ठीक वही-वही वस्तु हूँ। पञ्चमकार की साधना के द्वारा जो दर्शन प्राप्त होता है वह दूसरी वस्तु है। वह ठीक-ठीक चैतन्य वस्तु नहीं है।"

साधु का अत्यन्त क्रोध का भाव देखकर मैं अपने स्थूल देह में प्रविष्ट होने के लिए उसकी ओर चला। देह के निकट जाकर मैंने देखा, जिस स्त्री के विषय में पहले कहा गया है वह मेरी देह को घेर कर साई है अर्थात् मेरी देह मानों उन्हीं की देह हो गई हो, मेरी कोई पृथक् देह है ऐसा मैं समझ न सका। तब "मैं तुम्हारी वही माँ हूँ" (अर्थात्—त्रिवेणी घाट में जिन्हें मैंने देखा था वे)—यह बात सुन कर एकबारगी बिजली के प्रकाश की तरह चमक कर क्षणभर में मैं देह में लौट आया, मन मुझे फिर धोखा दे न सका। एकबारगी मानों नया मनुष्य हो गया। वह ग्लानिका भाव, वह अशान्ति सब दूर हो गई। डाकू रत्नाकर किस प्रकार वाल्मीकि मुनि हुये थे यह मेरी समझ में आ सका ब्रह्मा ने उनकी निज देह दग्ध

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कर उसके स्थान पर वाल्मीकि मुनिरूणी नूतन मानव शरीर का निर्माण कर दिया था। आज मैं समझा सका कि महापुरुष ने मेरी भी मनोमय देह को जलाकर मेरी भूलभ्रान्ति दिखा दी थी। दूसरे दिन मेरे मन में एक संशयशून्य शान्ति भाव स्फुट हो उठा। तब मेरे मन में ऐसा परिवर्तन हुआ था कि अन्य प्रकार का चिन्तन करने की क्षमता नहीं रही। दैवयोग से तीन चार दिनों के बाद वह स्त्री मुझसे फिर औषध लेने आई थी। उसने हाथ जोड़कर अत्यन्त विनय के साथ मुझसे औषध की प्रार्थना थी। सूर्य की गर्मी से जैसे मक्खन पिघल जाता है उसको देखकर मेरी अवस्था भी बहुत कुछ उसी प्रकार की हुई। मैं बैठकर स्थिर नहीं रह सका, दोनों नेत्र आंसुओं से गीले हो गये थे। तब मैं समग्र विश्व ब्रह्माण्ड में एकमात्र मातृमूर्ति के सिवा और कुछ भी नहीं देख रहा था। किसी तरह अपना भाव संवरण कर उठकर निर्जन स्थान में चला गया।

सूक्ष्म देह का अवलम्बन करने पर मन की धोखाधड़ी सहज में ही पकड़ी जा सकती है। पूर्वोक्त घटना इस महा सत्य की दृष्टान्त स्वरूप है।

प्रश्न—अब एक आनुषङ्गिक प्रश्न पूछता हूँ। प्रश्न यह कि आप स्त्री के किस रोग की चिकित्सा कर रहे थे। सहसा आपके चित्त में इस प्रकार का विकार उत्पन्न होने का कारण क्या था?

ज्योतिजी—स्त्रियों की दैहिक और मानसिक प्रकृति पुरुषों के विपरीत है। जब स्त्री का मन निम्न स्तर में रहता है अर्थात् जब उसके मन में कामना का उदय होता है तब उसका मानसिक परिवर्तन तो होता ही है, दैहिक परिवर्तन भी हो जाता है जो स्थूल-रूप से भी दिखाई देता है। इसी समय स्त्रियों के स्त्रीधर्म की सूचना होती है—उस कामनारूप असत् की ओर जो वस्तु आकर्षण करती है—उसके द्वारा मातृत्व का विकास होता है और सत्‌की उत्पत्ति होती है—किन्तु पुरुष के निम्न स्तर में जाने पर किसी ओर भी उसका विकास नहीं होता। वह मलिन होकर सूख जाता है, इसलिए पुरुष की अपेक्षा स्त्री

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में सहज बुद्धि अधिक है। मेरा उद्देश्य था, किसी प्रकार औषध की क्रिया द्वारा उस निम्नस्तर में स्थित मन की ऊर्ध्व गति की जा सकती है अथवा नहीं यह देखना। इस विषय में चिन्तन करते करते ही मेरा मन विगड़ गया।

प्रश्न—स्त्रियों के मातृत्व का विकास कैसे होता है इस बिषय में आपने अपनी जानकारी प्रकट की। किन्तु पुरुषों की पितृत्व शक्ति का उद्गम कहाँ है? प्रसङ्गतः इस सम्बन्ध में भी आपकी अपनी धारणा क्या है यह जानने की इच्छा हो रही है। वय के साथ स्त्री-देह को तरह पुरुष-देह में भी परिवर्तन होता है, इस अवस्था में दोनों देहों के बीच पार्थक्य कहाँ पर है?

ज्योतिजी—पुरुषों की पितृत्व शक्ति का मूल ब्रह्मचर्य, संयम और ज्ञान है। एक का स्वाभाविक धर्म है असत् से सत् को प्रकट करना और दूसरे का स्वभाव है केवल सत् होकर ही चलना। स्त्रियों की कामना असत् वस्तु है वह पुरुषों को मोहित करती है, उस मोह के कारण पुरुष आत्मज्ञान खो बैठता है, किन्तु स्त्री अपनी कामना को ईश्वर में उडेल कर पुरुष के स्वभाव को उत्पन्न करती है। प्रसव के समय वह सत् वस्तु ही उत्पन्न करती है। उसके पश्चात् विवेक का उदय होने पर वह वस्नु अपना व्यक्तित्व समझ कर चलना आरंभ करती है। शिशु कदापि अपनी जननी की कामिनी के रूप के भावना नहीं कर सकता। पुरुष के आश्रय के बिना स्त्रियों बा स्वतन्त्ररूप से रहना श्रेयस्कर नहीं है। उसमें उनके धर्म का विकास नहीं होता। स्त्रियों के भी ब्रह्मचर्य, संयम, ज्ञान इत्यादि आवश्यक हैं, किन्तु वह पुरुष के आश्रय से, स्वतन्त्ररूप से नहीं। इसीलिए पतिका वियोग होने पर पति का चिन्तन करना ही स्त्री का प्रधान कर्तव्य गिना जाता है। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि स्त्रियों का मन जब निम्न स्तरमें जाता है। तब स्थूलरूप से उनका जो शारीरिक परिवर्तन होता है उसको वह किसी तरह रोक नहीं सकतीं किन्तु पुरुष वहाँ अपने व्यक्तित्व की रक्षा कर सकता है। स्त्रीप्रकृति का त्यागकर वह चल सकता है, पर प्रथम जीवन में उसका ब्रह्मचर्य आवश्यक है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ज्योतिजी से फिर प्रश्न किया गया—षट्चक्र के सम्बन्ध में आप अपनी धारणा संक्षेप में कहने की कृपा करें। आपने षट्चक्र के प्रथम स्तर की बात ही कही है, किन्तु षट्चक्र क्या है, इस सम्बन्ध में आपने कुछ भी नहीं कहा। आपके इस सम्बन्ध में सरलता से अपने ज्ञान और अनुभव को प्रकट करने पर बहुत लोगों को वह रहस्य स्पष्ट हो जायगा।

ज्योतिजी—अनेक लोगों की यह धारणा है कि देह के भीतर चित्र के तुल्य कितनी ही वस्तुएँ हैं जिनको नेत्रों से देखा जा सकता है। षट्जक्र के सम्बन्ध में भी उनकी यही धारणा है, किन्तु मानव-शरीर का विश्लेषण करने पर इस तरह का कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता। षट्चक्र का चित्र एकमात्र मनुष्य-देह में ही देखा जाता है। एक एक चक्र को मनका एक स्थान या केन्द्र समझना होगा, कहाँ कौन प्रकृति उन केन्द्रों में क्रिया कर रही है यदि सूक्ष्मदेह धारण किया जा सके तो ये सब विषय अपने नेत्रों से देखे जा सकते हैं। हमारा मन जब किसी विषय में अभिनिविष्ट होता है तब वहाँ हमारी ही निज देह के अनुरूप एक छाया पड़ती है—उसका नाम मनोमय देह है। वह स्थूलतः हम लोगों की देह के ऊपर क्रिया करती है। देह के ऊपर उसका प्रभाव अत्यन्त अधिक पड़ता है। मनने देह की प्रवृत्तियों का एक-एक स्थान देह के भीतर बना लिया है। वे सब स्थानों के प्रत्येक चक्र के आकार में स्थित हैं। साधारण लोगों की भाषा में उनको षट्चक्र कहते हैं। मन जब योग के द्वारा षट्चक्रभेद करता है तब ब्रह्मज्योति में पहुँचता है।

नाभिमूल में कुण्डलिनी शक्ति है और भीतर अनाहत ध्वनि होती है, किन्तु वास्तव में वह ध्वनि अथवा शब्द सदा ही वर्त्तमान रहता है एवं केवल देह के अन्दर ही रहता है, ऐसी बात नहीं है। यदि सदा वह शब्द वर्त्तमान रहता तो मन का संयोग हुए बिना सुना क्यों जाता ? शब्द केवल देह के भीतर नहीं, समग्र ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। किन्तु ऐसा होने पर भी मन के देह के भीतर न रहने पर वह सुनाई नहीं देता। जीवात्मा के मृत्युकाल में देहत्याग कर चले जाने पर उस शब्द का कुछ पता नहीं लगता। यह स्थूलतः वायु का कार्य है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हम लोगों के कर्णकुहर में ग्रामोफोन के रेकर्ड के तुल्य एक पतला चमड़े का पर्दा है। साधनावस्था में मन के कुण्डलिनी में पहुँचने पर मन और वायु के संयोग से कर्णकुहर में स्थित उस पर्दे पर आघात होता है, तभी हम मन को मस्त करनेवाला एक शब्द सुन पाते हैं। इसी का नाम अनाहत ध्वनि है। वास्तव में इस शब्द का कुण्डलिनी शक्ति से ही मन संग्रह कर लेता है। यही शब्दब्रह्म है। कुण्डलिनी शक्ति और मन की पृष्ठभूमि में द्रष्टा होकर मनोयोग के साथ ही साथ नाभिमूल में यह उत्पन्न होता है। अनाहत ध्वनि से जगत् की सम्पूर्ण ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं, इसलिए शब्दमात्र ही मूलतः ब्रह्मस्वरूप हैं। मैंने इस विषय में जो कुछ कहा, वह मेरे व्यक्तिगत अनुभव का परिणाम है।

प्रश्न—आपने मनोमय देह और सूक्ष्म देह का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। दोनों में कोई पार्थक्य है क्या ? यदि है तो वह किस प्रकार का है ?

ज्योतिजी—इन्द्रियसंयोग से जिस देह की उत्पत्ति होती है उसको मनोमय देह कहते हैं। उसमें भूल और भ्रान्ति दोनों ही रह सकती हैं। मैं एक देश में बैठकर ही मनोमय देह के द्वारा अन्य देश के जिस किसी व्यक्ति को देख सकता हूँ। मन की क्षमता का विकास होने पर यह सहज में ही हो सकता है। भूल, भ्रान्ति, सत्य, मिथ्या सभी इसमें हो सकते हैं किन्तु सूक्ष्म देह का व्यापा ऐसा नहीं है। उसमें भूल-भ्रान्ति नहीं होती एवं वह बहुत अधिक स्वाधीन है।

ज्योतिजी से एक दिन मैंने पूछा कि स्थूलदेह का त्याग कर सूक्ष्म देह से विभिन्न स्थानों में भ्रमण करने की जो शक्ति आपने महापुरुष की कृपा से प्राप्त की थी, उसे आप किसी शिक्षार्थी को सिखा दे सकते हैं क्या ? यह यद्यपि पूछना उचित नहीं है तथापि इस विषय में आपकी शक्ति का विकास कितना हुआ है यह जानने की उत्सुकता से ही मैं पूछ रहा हूँ।

ज्योतिजी—इस विषय को दूसरे को सिखा देने के सम्बन्ध में मेरी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपनी कुछ जानकारी नहीं है, क्योंकि मैं इसकी कोई प्रणाली नहीं जानता। महापुरुषके अनुग्रह से मुझे यह शक्ति प्राप्त हुई थी एवं उसके बाद मैंने क्रमशः अभ्यास करते-करते इसे अपने आयत्त किया है। पहले पहले वे मुझे आकर्षण कर ले जाते थे, मैं मन्त्रमुग्ध की तरह उनके पीछे-पीछे जाया करता था। उनके मुझको पुकारते ही मैं उनका अनुसरण करता था। मैं चाहे जब जिस अवस्था में रहता उनके आकर्षण का मुझे तीव्र अनुभव होता था। यहाँ तक कि दूसरे के साथ बातें करते समय भी उनके अपनी आवश्यकता के अनुसार मेरा आह्वान करने पर मैं उनका अनुगमन करने को बाध्य होता था। उनके आह्वान के साथ-साथ मेरे शरीर में एक प्रकार का अवसाद आता था, तब किसी एक वस्तु का अचलम्बन कर देह की रक्षा कर सकते ही मैं शरीर से बाहर निकल कर चला जा सकता था। देह से बाहर निकल कर मैं पहले अपनी देह को ही देख पाता था। देह किस प्रकार पड़ी है यह साफ-साफ दिखाई देता था। एक बार मैंने देखा कि मेरे मस्तक पर अनेक चीटियाँ आकर इकट्ठी हुई हैं। अधिकमात्रा में तेल मस्तक में लगाकर मैंने स्नान किया था, इसलिए चींटियाँ आई थी ऐसा प्रतीत होता है। सूक्ष्म देह के शरीर से बाहर निकलने पर भी शरीर के साथ बिजली के प्रवाह की तरह ऐसा एक अकाट्य बन्धन रहता है कि वह सहसा कटता नहीं। पर शारीरिक यन्त्रों के विकृत होने पर वह कट जाता है। किसी आदमी के सूक्ष्म देह से बाहर निकलने पर दूसरा कोई व्यक्ति यदि आकर उसकी स्थूल देह को किसी तरह स्पर्श कर नष्ट करने की इच्छा करे तो वह वैसा कर नहीं सकता, क्योंकि सूक्ष्म देह तुरन्त लौट आयेगी। पर मृत्यु के अनन्तर जो लौटकर वह नहीं आ सकती उसका कारण है कि उस समय इच्छा शक्ति नहीं रहती। जो लोग इच्छापूर्वक मर सकते हैं वे इच्छा करने पर लौट भी आ सकते हैं। पर यदि सूक्ष्म देह के बाहर जाने बाद स्थूल देह की, स्पर्श किये बिना, यदि हत्या कर दी जाय तो सूक्ष्म देह के लिए उस देह में लौट आना संभव नहीं है, अकर्मण्य देह में इच्छाशक्ति की क्रिया नहीं होती।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दूसरे को इसे सिखाना सहज काम नहीं है, क्योंकि इस विषय में जिस योग्यता का रहना आवश्यक है उसके न रहने पर कोई भी इस विद्या को ग्रहण नहीं कर सकता। शक्तिशाली पुरुष की शक्ति से सब कुछ संभव होता है, यह दूसरी बात है। इस विषय में मेरी धारणा यह है कि ग्यारह इन्द्रियों के ऊपर विशेष अधिकार और नियन्त्रणशक्ति का उपार्जन यदि न किया जा सके तो सूक्ष्म देह से बाहर निकलना कठिन काम है। गुरु अथवा उनके अनुरूप किसी के भी अधीन होकर आध्यात्मिक जीवन का संस्कार अपने जीवन में उत्पन्न करना आवश्यक है। आध्यात्मिक जीवन के कर्तव्य के सम्बन्ध में साधारण मनुष्यों की कोई धारणा ही नहीं रहती। उनसे यदि पूछा जाय कि वे सूक्ष्म देह से बाहर निकल कर क्या करेंगे तो वे ठीक कुछ कह नहीं सकेंगे। मृत व्यक्ति के साथ वार्तालाप करना अथवा विश्व ब्रह्माण्ड के अन्दर बड़े-बड़े देशों में पर्यटन करना इस प्रकार के कार्यों के सिवा अन्य किसी विषय का संस्कार उनमें नहीं है। किन्तु वास्तव में इन सब कार्यों के लिए सूक्ष्म देह से बाहर निकलना वांछनीय नहीं है। आध्यात्मिक जीवन में पूर्णता लाने के लिए सूक्ष्म शरीर की क्रिया करना सार्थक है। मैंने अपने जीवन में यही समझा है। कोई-कोई मुझ से पूछते थे कि मैं सूक्ष्म शरीर धारण कर उनको दिखाई दे सकता हूँ या नहीं ? मैं उत्तर में कहता था, "मैं सूक्ष्म शरीर में सब के निकट ही उपस्थित हो सकता हूँ, किन्तु जिसके निकट मैं उपस्थित होऊँगा वह यदि साथ-साथ सूक्ष्म देह धारण कर सकता है तो उसके लिए मुझे देखना संभव हो सकता है।"

जो स्वयं सूक्ष्म शरीर की क्रिया नहीं कर सकता वह अन्य का शरीर किस प्रकार देखेगा ? इसलिए सूक्ष्म शरीर में किसी को भी देखना सहज नहीं है। कोई-कोई समझते हैं कि परलोक गत आत्मीयजनों का दर्शन जब संभव है, तब सूक्ष्म शरीर वाले महात्मा का दर्शन क्यों न हो सकेगा ? इसके उत्तर में मेरा कथन यह है कि परलोकगत आत्मा का दर्शन और जीवित लोगों का दर्शन एक बात नहीं है। मृतात्मा का दर्शन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पाना कुछ कठिन नहीं है, क्योंकि वह दूसरी वस्तु है, किन्तु जीवित व्यक्ति का दर्शन प्राप्त करना हो तो अपने को उसके बराबर होना होगा। वैसा न हो सकने पर जिस किसी प्रकार का दर्शन ही क्यों न हो उसे मस्तिष्क का विकार अथवा मनका धोखा समझना होगा। पर यह सत्य है कि वह भी किसी-किसी समय सत्यरूप में परिणत होता देखा जाता है। मन की वह क्षमता है जिससे वह दर्शन आंशिकरूप से सत्य होता है। किन्तु वह यथार्थ वस्तु नहीं है। वह मन से ही उत्पन्न है। मन की क्रिया से उसका आविर्भाव होता है। तन्त्र-शास्त्र में मन्त्रशक्ति के प्रभाव से नाना प्रकार की मानसिक प्रक्रियाओं का निर्देश है, वे सब वस्तुतः यद्यपि आश्चर्यजनक है, किन्तु तथापि वे मानसिक हैं यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

ज्योतिजी से पुनः प्रश्न किया गया—सूक्ष्म देह स्थूल देह से निकलती है। स्थूल देह एक और अभिन्न है, वह भूमि पर पड़ी रहती है। सूक्ष्म देह क्या अवस्था के अनुसार विभिन्न हो सकती हैं? अर्थात् एक ही समय में एकाधिक सूक्ष्म देह धारण की जा सकती हैं या नहीं। इस विषय में आपकी जानकी क्या है?

ज्योतिजी—सूक्ष्म देह के द्वारा प्रत्येक विषय की परीक्षा की जा सकती है। प्रयोजन के होने एवं सामर्थ्य रहने पर एक साथ बहुत सूक्ष्म देह धारण की जा सकती हैं। महापुरुष के अनुग्रह से मैंने दो एक बार इसका अनुभव किया है। एक दिन महापुरुष के आदेश से एक साथ सात काम करने के लिये आदिष्ट होकर मैं सात देह धारण कर आकाश-मण्डल में सात भिन्न-भिन्न स्थानों में चला गया था। प्रत्येक देह अपना निर्दिष्ट कार्य सम्पन्न करती थी। सब काम होने के उपरान्त जब मैं स्थूल देह में लौट आ रहा था तब अपनी ही एक देह देखकर स्वयं ही मोहित हो गया था। तब मैं उस देह का आदर करने जा रहा था। इच्छा थी, निकट बैठा कर कुछ जिज्ञासा करूँ। इसी समय ज्यों ही मैंने देह का स्पर्श किया त्यों ही मुझे प्रतीत हुआ कि यह भी तो मैं ही हूँ। तब सात देहों को लेकर एक साथ स्थूल देह में लौट आया। इन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सब बातों को साधारण लोग केवल गप्प ही समझेंगे। अपने जीवन का निर्माण न कर सकने हर कोई इसे समझ न सकेगा।

प्रश्न—आध्यात्मिक जीवन के सम्बन्ध में बहुत सी रहस्य की बातें आपने कहीं, किन्तु इस जीवन में चलते-चलते भगवान् की कृपा का आभास कभी आपको प्राप्त हुआ या नहीं ? इस सम्बन्ध में आपको अपनी अनुभूतिमूलक दो एक घटनाएँ मैं जानना चाहता हूँ।

ज्योतिजी—महापुरुष के दर्शन-लाभ के बाद जब मैं सूक्ष्म देह से नाना प्रकार के दृश्यों का दर्शन कर रहा था तब निर्जन स्थान में रहते ही कुछ देख पाता था। दिन रात सदा ही ऐसा होता था। मैं देखता था, मानो कोई मेरे निकट बैठा है, अथवा शरीर पर हाथ रखकर किसीने मुझे पकड़ रखा है। किसी-किसी दिन २४ घण्टों में मुझे बिलकुल ही नींद नहीं आती थी। केवल उन्हीं सबको देखता था। कभी-कभी हाथ से पकड़ने जाता, किन्तु मैं हाथ रखूँगा ऐसा सोचते वह हट जाता था। किसी-किसी दिन बालक तथा किसी-किसी दिन स्त्री की मूर्ति मुझे दिखाई देती थी। तब मेरी अवस्था अधिक नहीं थी।

एक दिन रात्रि में पेशाव करने मैं कमरे के बाहर गया पेशाबकर आकाश की ओर ज्योंही मैंने ताका मुझे दीख पड़ा कि आकाश से जैसे उल्कापात होता है वैसे ही एक ज्योतिर्मय वस्तु वेग से उतर कर मेरे भीतर प्रविष्ट हुई। ज्योति खूब शान्त और स्निग्ध थी। देह में उसके प्रवेश करते ही देह मानो ठण्डी हो गई थी।

एक बार हम लोगों के मकान से कई मील दूर पहाड़ पर मैं अपने एक साथी के साथ गया था, 'पहाड़ देख कर लौट आना उद्देश्य था। उस घने झंगल में हिंस्र जन्तु रहते थे। एकमात्र पक्षियों के कलरव के सिवा और कोई शब्द सुनाई नहीं देता था। हम दो जने वहाँ बैठ कर भगवत्-चर्चा कर रहे थे। स्थान बहुत अच्छा लगा था, इसलिए सारे दिन वहाँ बैठकर हृदय का उच्छ्वास अदृश्य पुरुष के निकट व्यक्त कर रहे थे। मार्ग के श्रम और सारे दिन के अनाहार से अत्यन्त शिथिल हो पड़े थे; किन्तु हृदय और मन भगवच्चिन्तन में मग्न थे। इस तरह कुछ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क्षण व्यतीत करने के बाद हमें दिखाई दिया कि एक बालक और एक बालिका एक हाँडी हाथ में लेकर हमारे निकट उपस्थित हुए। बालक की अवस्था आठ नौ और बालिका की अवस्था सात आठ वर्ष की होगी। हांडी में खाना था और कई एक फल रखे थे। उसे देखकर मेरा साथी अवाक् होकर मेरे मुखकी ओर देखता रहा। मैंने उसे डपट कर हांडी ग्रहण करने को कहा, तब उसने उसे अपने हाथ में ग्रहण किया। बन्धु-बाधवशून्य निर्जन स्थान था, अपने कष्ट की बात स्वयं ही समझ रहे थे; वहाँ बहुत दूर तक किसी आदमी का नाम निशान नही था। किन्तु उस निर्जन स्थान में भी हृदय के अन्तस्तर में बैठकर भगवान् ने हमारे हृदय की व्यथा समझी थी, इसीलिए उनकी कृपा से ही यह व्यवस्था हुई।

'ज्योतिजी साधारणतः कर्म को चार श्रेणियों में विभक्त करते थे। वे कहते थे कि कर्म का फल सुख है। जिसके द्वारा अपने को काल के प्रवाह से बचा कर रखा जाता है, उसका नाम पुण्य है। दया, परोपकार, सत्यपालन आदि इसी श्रेणी के अन्तर्गत हैं। जिस कर्म का फल दुःख है, जिसके द्वारा अपने को बचाया नहीं जाता, उसका नाम पाप है—जैसे परपीडन इत्यादि। पुण्य और पाप के अतिरिक्त एक प्रकार का कर्म और है— उसको वे 'शुद्ध' कर्म कहते थे। यही उनके मत से आत्मकर्म है जिससे अपना आत्मज्ञान का पथ खुल जाता हैं। 'मैं क्या हूँ', 'कहाँ से क्यों आया हूँ', यह सब रहस्य आत्मकर्म से जाना जाता है। पूजा, अर्चना, ध्यान आदि आत्मज्ञान-लाभ के उपायभूत साधन आत्मकर्म के ही अन्तर्गत हैं। अपने भीतर जो चैतन्यमय वस्तु है, उसको जानने के लिए प्रत्यक्षदर्शी ज्ञानी जिस उपाय का निर्देश करते हैं वह उसी श्रेणी के कर्म में परिगणित होता है। यही कर्म योग है। वह उपाय स्थूल दृष्टि से नाना प्रकार का प्रतीत होने पर भी सूक्ष्मरूप से देखने पर एक ही ज्ञात होता है।

इन तीन प्रकार के कर्मों के अतिरिक्त बाहरी कर्म को वे 'व्यर्थ' कर्म कहते थे, जैसे भूख के समय भूख मिटाने के लिए खाना, प्यास के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समय प्यास मिटाने के लिए जल पीना इत्यादि। मन कभी निष्क्रिय नहीं रहता। जब आत्मकर्म का मार्ग नहीं मिलता तब मन इधर-उधर घूमता भटकता है, नाना प्रकार की असत्य कल्पना आदि को लेकर खेलता है। ये सब व्यर्थ कर्म में ही परिगणनीय हैं। मन जिन सब दैनन्दिन स्वाभाविक कार्यों को बाध्य होकर करता है वे भी इसीके अन्तर्गत हैं। जिन्हें अच्छे बुरे का ज्ञान नहीं उनके पाप पुण्य भी नहीं होते, आत्म कर्म भी नहीं होते; जैसे पशु-पक्षी, शिशु, अशक्त मनुष्य इत्यादि। जो सब मनुष्य योगभ्रष्ट हो कर पशु आदि की योनियों में जन्म ग्रहण करते हैं, अन्य पशु आदि के तुल्य उनके भी उस अवस्था में रहते समय पाप-पुण्य का उदय नहीं होता।

पशु-पक्षियों की भी सूक्ष्म सत्ता है; किन्तु व्यक्तित्व नहीं है अथवा 'मैं हूँ' ऐसा बोध नहीं है। इसलिए वे कारण भूमि का पता नहीं पा सकते। पशु-पक्षी अपने सूक्ष्म शरीर को भी देख नहीं पाते। मनुष्य में व्यक्तित्व बोध है, इसलिए एकमात्र मनुष्य ही सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर का पता लगाने में समर्थ हैं। पशु आदि की देह में षट्चक्र नहीं है—उन सब देहों में नाद-ध्वनि सुनाई नहीं देती। वे सब कर्मदेह नहीं हैं। वास्तव में मनुष्य और पशु में बड़ा अन्तर है। वैज्ञानिक लोग उन्नति प्राप्त करने पर क्षुद्र जीवों की सृष्टि कर सकेंगे, किन्तु उच्च जीव, विशेषतः मनुष्य, की सृष्टि नहीं कर सकेंगे। केवल हृदय में स्पन्दन का संचार चैतन्य शक्तिशाली मनुष्य के लिए उतना कठिन नहीं है, किन्तु अपने तुल्य और एक मन अथवा बुद्धि का संचार करना असम्भव है।

मनुष्य यदि मनुष्य देह से च्युत होकर प्रकृति के प्रवाह में गिर पड़े तो उसके लिए ऊपर उठना बड़ा कठिन है—तब वह चौरासी लाख योनियों में इधर उधर घूमता रहता है। संभवतः कोई कोई एकदम लीन हो भी जा सकते हैं। पर अपने को ऊपर उठाने के अनुरूप कर्म का पहले से संचय रहने पर अवश्य लौट आ सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं है। इसलिए एक बार मनुष्य देह प्राप्त करने पर आत्मकर्म में अपने को नियुक्त करना आवश्यक है—अन्यथा पतन की आशङ्का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निवृत्त नहीं होती। आत्म कर्म द्वारा एक बार अपने को चीन सकने पर फिर किसी प्रकार का भय नहीं है। क्योंकि तब कीड़े, फतोंगे, पशु, पक्षी किसी योनि में बँधे रहने की आशङ्का नहीं रहती है। सभी अवस्थाओं से सहज में अपनी जगह लौट आया जा सकता है। सूक्ष्म स्तर में अपने भाव अथवा स्वभाव के अनुसार नाना प्रकार के वर्णों का उदय होता है। किन्तु कारण जगत् में वर्णों का उतना पार्थक्य देखा नहीं जाता, प्रायः सर्वत्र हल्का पीला वर्ण दिखाई देता है। यह स्वाभाविक वर्ण है—देह का वर्ण नहीं है। देह अवश्य नाना वर्णों की हो सकती। कारण भूमि तक मन का अस्तित्व खोज कर प्राप्त होता है। मन के न दीखने पर भी उसकी क्रिया दिखाई देती है एवं उससे मन का अस्तित्व पकड़ में आता है, देह के किस स्थान में किस समय मन निविष्ट रहता है यह जाना जा सकता है। रक्त की एक अत्यन्त शोधित अवस्था है, उसकी क्रिया से स्थान विशेष में मन की अवस्थिति जानी जा सकती है। सुषुप्ति में मन नहीं रहता—वायु में लीन रहता है। संस्कार आदि मन में ही रहते हैं। इसीलिए लय के बाद पुनः निर्गमन होने पर पहले के संस्कार आदि प्रकाशित होते हैं। वायु में मन का लय न होकर जीवात्मा में होने पर अच्छा है। जीवात्मा के बचा रख कर भी जैसे परमात्मा को जाना जा सकता है वैसे मन को डूबने न देकर भी जीवात्मा को जाना जाता है।

मन का अतिक्रमण कर मनुष्य को खड़ा होना चाहिये। जीवात्मा द्रष्टा है। मन हीन आत्मा उस विराट् आत्मा का द्रष्टा है। उसी प्रकार विराट् आत्मा भी परम आत्मा का द्रष्टा है। किन्तु जगत् को यदि देखना हो तो मन का अवलम्बन करना ही होगा। अन्यथा बहुत्व अथवा वैचित्र्य का दर्शन तहीं होगा। आत्मा जब द्रष्टा है तब मन को सुरक्षित रख सकने पर परमात्मा या अभेद में जगत् या भेद देखा जा सकता है। मन को सुरक्षित न रख सकने पर भेदांश दिखाई नहीं देता। केवल अभेद के ही दर्शन होते हैं। मन का न रहना भी दो ही प्रकारों से संभव है—(क) जब मन आत्मा में प्रविष्ट हो कर लीन हुआ रहता है और (ख)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जब मन किसी विषय से तन्मय हुआ रहता है। इसलिए स्वयं मन के अतीत हो कर मन को अपने अधीन रखना, यही मनुष्य का प्रधान कर्तव्य है। परमात्मा या विराट् आत्मा का दर्शन अभेद दर्शन है एवं जगत् का दर्शन अभेद में भेद का दर्शन है। प्रथम दर्शन में मन नहीं है, दूसरे में मन है।

ज्योति जी कहते थे—स्वर्ग, ब्रह्मलोक, बैकुण्ठ आदि और देव, देवी आदि—सभी को स्थूल मानना होगा। कारण जगत् में जीव बहुत कम हैं—वहाँ स्थित होने पर परिवर्तन नहीं रहता। पर स्थूल में उतरा जा सकता है---बहुधा उतरा भी जाता है। किन्तु वह कर्म फल नहीं है, इच्छा मात्र का फल है। ईश्वरेच्छा या स्वेच्छा ही ऊसका मूल है। स्थूल जगत् में अपने अभीष्ट कार्य का सम्पादन कर के ही फिर कारण में लौटा जा सकता है—जन्मान्तर ग्रहण करना नहीं पड़ता। आवद्ध होने की आशङ्का भी नहीं रहती। पूर्व जन्म की स्मृति या कर्त्तव्य ज्ञान समय पर अपने आप ही जाग उठता है। पर कोई कोई उतरने पर पूर्व स्मृति अक्षुण्ण रख नहीं सकते। साधारणतः कारण से उतरते समय अल्प अंश लेकर उतरने पर स्मृति लोप होता है। किन्तु अधिक अंश से उतरने पर भी कभी कभी किसी किसी की स्मृति रक्षा हो जाती है। अवश्य, इसके नाना कारण हैं। कारण देह भी साकार और हाथ पैर आदि से युक्त हैं। पर उसमें परिवर्तन नहीं होता। उसको भाव देह कहा जा सकता है।

सूक्ष्म देह का आकार साधारणतः स्थूल देह के अनुसार होता है। स्थूल का त्याग करने के बाद भी सूक्ष्म का आकार वैसा ही रहता है। पुनर्जन्म के समय माता के गर्भ में प्रवेश करने पर आकार का परिवर्तन होता है। जल जैसे पात्र के अनुसार आकार को प्राप्त होता है, यह बहुत अंशो में उसी के तुल्य है।

सूक्ष्म की सीमा तक दैव या नियति क्रिया करती रहती है। वहाँ तक जीव की अधीनता हटती नहीं। भवसागर के उस पार में अर्थात् कारण भूमि में जीव को स्वाधीनता की प्राप्ति होती है। सूक्ष्म में भी घुमना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फिरना होता है—वहां भी कर्म का बन्धन है। किन्तु कारण देह में कर्म-बन्धन नहीं है। तथापि कारण में तृप्ति प्राप्त नहीं होती। कारण जगत् में देह मानस या चिन्मय है, वह सदा एक तार में रहता है। आनन्द, दया, प्रेम, करुणा, क्षमा, विभूति आदि वहाँ की विशेषता है। इसीलिए समग्र विश्व के कल्याण के लिए कारणवासी लोग निरन्तर संचरण करते हैं। उसमें बन्धन नहीं है, यह ठीक है एवं स्वाधीनता में पूरी है, यह भी सत्य है, किन्तु खूब अच्छी तरह समझ में आ सकता है कि एक आवरण रहता है। पूर्ण सत्य का खुला प्रकाश वहाँ भी प्राप्त नहीं होता। मानों एक विच्छेद का भाव सदा ही लगा है, ऐसा प्रतीत होता है। किन्तु महाकारण मे यह बात नहीं हैं। वही नित्य मिलन का स्थान है। विराट् सत्ता की जो सत्ता या धर्म है, वहां जाने पर अपने को भी वही प्राप्त होती है—कोई भेद नहीं रहता। अथ च भेद है—ब्रह्म होकर भी थोड़ा भेद रहता है।

सूक्ष्म देह के जन्म-मरण नहीं होते, यह सही है, पर वह भी कर्म के अधीन है। इसीलिए आवश्यकता पड़ने पर भोग के लिए स्थूल में उतरना पड़ता है। देवतादि सब कारण जगत् की सत्ता हैं। महाकारण में यदि जाना हो तो स्थूल से जाना ही सुविधा जनक होता है। पर यह सत्य है कि साधन-भजन के द्वारा महाकारणमें जाने का उपाय नहीं है। साधन-भजन से कारण जगत् में जाया जा सकता है एवं वहां परम आनन्द में स्थिति की जो सकती है। किन्तु वह भी पूर्णता नहीं है। अतृप्ति वहाँ भी रह ही जाती है। पर कारण से महाकारण मे जाने का एक कौशल है। कारण में रह कर यदि उस कौशल का अवलम्बन कर स्थूल और सूक्ष्म के आकर्षण का त्याग किया जा सके तो साथ ही साथ महाकारण का पता पाया जा सकता है, अन्यथा नहीं। किन्तु उसके द्वारा महाकारण में स्थिति नहीं हो सकती। स्थिति-प्राप्ति के लिए स्थूल से ही चेष्टा करना आवश्यक है। कारण में स्थिति-लाभ ओर महाकारण में स्थिति-लाभ एक बात नहीं है। प्रथम स्थिति में ईश्वर तक पहूँचा जाता है, यहां तक कि ईश्वरत्व लाभ भी होता है,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किन्तु पूर्णता नही होती। ईश्वर की पराबस्थामें ब्रह्म है, उसका यदि पता पाना हो तो कारण का भेद कर महाकारण में प्रवेश करना आवश्यक है। ईश्वर को पाया जाता है, ईश्वर हुआ भी जाता, किन्तु ब्रह्म को पाया नहीं जाता—ब्रह्म हुआ जाता है। उसी का नाम पूर्णत्व है। जगत् के विभिन्न स्तरों में जो कुछ हो रहा है सब व्यापारों का एकमात्र उद्देश्य ईश्वर को प्राप्त होना है, ब्रह्म होना नहीं है! हम सदाचार, योग आदि जिस किसी उपाय का अवलम्बन क्यों न करें उसका फल ईश्वर प्राप्ति है, ब्रह्म होना नहीं है। ब्रह्म की उपलब्धि की जाती है, यह सत्य है, किन्तु ब्रह्म होना कठिन काम है।

सृष्टि की जो धारा प्रचलित है उसके अनुसार ब्रह्म का संकल्प होते ही ईश्वर भाव की उत्पत्ति होती है। विश्व के सभी व्यापार ईश्वर के अधीन बे। ब्रह्म नित्य चैतन्य स्वरूप है, जिससे ईश्वर सब कुछ प्रकट कर डालते हैं और जागतिक कार्य का निर्वाह करते हैं। ब्रह्म की इच्छा इच्छायात्र यानी निर्विषयक है! किन्तु ईश्वर और जीव की इच्छा सविषयक है। पर जीव की इच्छा सदा सत्य नहीं होती, ईश्वर की इच्छा सदा ही सत्य है—यही दोनों में भेद है।

योग आदि नाना साधनों से हम लोग ईश्वर तक ही पहूँच सकते हैं, ब्रह्म नहीं हो सकते। क्यों कि हम लोग जिन सब कौशलों का अवलम्बन कर ब्रह्म होने की चेष्टा करते हैं उनमें यदि ईश्वर का त्याग कर दिया जाय तो मोहित होकर मन को लीन हो पड़ना अनिवार्य है। किन्तु वह ब्रह्मावस्था नहीं है। वह चैतन्यावस्था ही नहीं है। चैतन्य को जाग्रत् न रख सकने पर ब्रह्म होना असंभव है। ईश्वर पूर्ण नहीं है, क्यों कि चेष्टा साधना द्वारा ईश्वर हुआ जाता है, किन्तु ब्रह्म हुआ नहीं जाता, ईश्वर प्राप्ति होने पर भी वहासे ब्रह्म होनेकी संभावना नहीं है। ईश्वरावस्था में केवल पूर्णता के दर्शन अथवा उपलब्धि होती है। ईश्वर भाव से नीचे उतर आने के बाद ब्रह्म होने की संभावना रहती है। ईश्वरावस्था श्रेष्ठ अवस्था है, इसमे सन्देह नहीं। पर वह पूर्णतः नहीं है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मन को चैतन्यमय कर सकने पर ब्रह्म हुआ जाता है। न कर सकने पर मन लीन हो जाता है और निर्वाण होता है। जिस क्षण में मैं ब्रह्म होऊँगा ठीक उसी क्षण में ईश्वर की शक्तिका लोप और सृष्टि का लोप अवश्यम्भावी है। तब सभी एक विराट् ज्योति में परिणत हो जायँगे। वस्तुतः मैं ही तब एक विराट् ज्योति हुआ। मैं ब्रह्म हुआ यह मैं किस प्रकार जानूँगा ? सभी पूर्ण में गये। तब ईश्वर की धारा चली गई यह सत्य है, किन्तु ब्रह्म की शक्तिधारा रही। तब उसके प्रभाव से एक क्षण के लिए पूर्व कल्प सारा का सारा स्मृति-पट पर भासित होता है। उसके द्वारा प्रमाणित होता है कि मैं ब्रह्म हुआ हूँ। इच्छा होने पर वह सृष्टि रूप में परिणत होगा। इच्छा यदि न भी हो तब भी वह अवश्य भासेगा।

जीवात्मा परम वस्तु से पृथक् है, मन से भी पृथक् है। परम तत्त्व की इच्छा वश जीवात्मा की सृष्टि होती है, पार्थक्य होता है। सृष्टि होने के बाद जीव ठीक ठीक परम तत्त्व के समान समान ही रहता है। बाद में उन्हीं की उस इच्छा से लीला या प्रवाह में बह पड़ता है। यही मन है। उसके बाद इन्द्रियों का स्तर है।

लौटते समय मन जीवात्मा तक पहुँचा देता है। उसके बाद जीवात्मा में अदृश्य हो जाता है। इन्द्रियां जैसे मन में मिल जाती है यह जीवात्मा भी वैसे ही, यदि अपना स्वातन्त्र्य न रख सके तो, पर तत्त्व में अदृश्य हो जाता है। यह मोह या सुषुप्ति है। किन्तु जीवात्मा अपना पार्थक्य बचा रख सकता है, यद्यपि यह अत्यन्त कठिन है।

मन तक ही लीला या क्रीडा-प्रवाह है। उसके छितरा जाने पर ही प्रवाह गया। मन के निवृत्त हो जाने पर दो अवस्थाएँ संभव पर है—एक परम वस्तु में जीवात्मा का लय और दूसरी स्वातन्त्र्य रूप से उसमें स्थिति, जैसे कि जल बरफ के रूप से समुद्र में स्थित होता है।

स्वातन्त्र्य की अवस्था श्रेष्ठ है। यह कृपा सापेक्ष है, इसलिए उसका नियम नहीं, साधना नहीं। साधना आदि के द्वारा कारण जगत् में गति होती है, वह पूर्ण आनन्द की अवस्था होने पर भी एक अतृप्ति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वहाँ सर्वदा ही अनुभूत होती है। वहाँ ज्ञान, दया, प्रेम तथा आनन्द की कभी समाप्ति नहीं होती। कारण जगत् में निवास करने वाले जीव करोड़ों ब्रह्माण्डों में घूमते फिरते (चक्कर लगाते) हैं, जीवों के दुःख दूर करते हैं, बहुधा अवतीर्ण भी होते हैं—उनके जन्म मरण नहीं, जरा व्याधि नहीं होती—वे दिव्य देह सम्पन्न होते हैं। वे परम वस्तु का पता जानते हैं सही, किन्तु वहाँ से परम धाम में जाकर स्थिति नहीं की जा सकती। स्थूल से ही वह संभव पर है, यह बात मैं पहले ही कह चुका हूँ।

कृपा के बिना परम पद में जाया नहीं जा सकता। जो आघात कृपा का उद्दीपक है वह कारण जगत् में नहीं है। कारण जगत् से विपरीत क्रम से सूक्ष्म में लौट आने पर फिर पर धाम में जाने की संभावना रहती है। कारण भी लीलाचक्र के अन्तर्गत है, यह भी निष्क्रिय या केवल द्रष्टा नहीं है। इसलिए एक समय अर्थात् महाप्रलय काल में कारण भी सो जायगा। तब एक जीव परमधाम में पहूँचेगा। एक जीव यदि यथार्थ द्रष्टा हो सके तो समग्र जगत् को लपेट कर लौट आवेगा और पर तत्त्व में मिल जायगा। जो इच्छा की धारा अनवच्छिन्न चली है वह उस समय विरत हो जायगी। लीला समाप्त होगी—इच्छा फिर नहीं रहेगी। बाद में नबीन इच्छा के उन्मेष के साथ फिर विकास होगा, फिर सृष्टि होगी। द्रष्टा कमी सुप्त अथवा मोहित नहीं होता। जिस इच्छा से जीव बाहर होता है वह निग्रह है, अनुग्रह अथवा कृपा उसी की निवृत्ति है। उसी से द्रष्टाभाव की प्राप्ति होती है।

द्रष्टा अवस्था आनन्द, ज्ञान, भक्ति आदि से बहुत ऊपर की अवस्था है। द्रष्टा को फिर उतरना नहीं पड़ता—उसी में उसकी सब आशाएँ पूर्ण हो जाती हैं, एक में ही वह सब कुछ पा जाता है। जगत् अनन्त होने पर भी अति क्षुद्र है, क्योंकि हमारे मध्य में ही तो वह है।

भगवान् की कृपा, अनुग्रह एकाएक आता है – कब आता है, क्यों आता है, कैसे आता है यह कहा नहीं जा सकता। पर सदा तैयार रहना चाहिये। तैयार न रहने पर वह कृपा खींच कर भीतर घुस जाती है—जीव सुषुप्त हो जाता है। अपने को सँभाल नहीं सकता।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कारण अनादि, और नित्य है। वह बीज स्वरूप है। महाकारण की इच्छा से इसमें क्रिया होती है। उसके कारण उसका विकास होता है, जिसका नाम सृष्टि है। यह इच्छा ही स्वभाव है। यह भी अनादि है।

कारण से सूक्ष्म और स्थूल का विकास होता हैं, यह सत्य है, किन्तु कारण कारण ही रहता है। रहता है, इसलिए उसी के आकर्षण से कार्य फिर उसमें वापस हो जाता है—जाने के लिए बाध्य होता है। किन्तु वहाँ जा कर लीन हो जाता है। द्रष्टा न हो सकने पर यह अवश्यम्भावी है। महाकारण द्रष्टा है। जीव भी उसके तुल्य हो सकता है। यदि हो जाय तो फिर उसका लय होगा नहीं, तब सृष्टि के कौशल को जान सकेगा और उसका विकास कर सकेगा। तब महाकारण के साथ समान समान होने से प्रेम का उदय होगा। इसके पश्चात् कृपा प्राप्त करने पर एकत्व अथवा पूर्णत्व का लाभ होता है। कारण देह महाकारण की प्रकृति है।

कारण महाकारण की इच्छा से स्पन्दित होकर प्रकृति विकास वश क्रम से सूक्ष्म और स्थूल से वेष्टित होता है। वह सभी कुछ होता है। अनन्त सृष्टि का उदय इसी प्रकार होता है। महाकारण की एक कण (इच्छा) लेकर यह होता है। शेष द्रष्टा रहता है।

इन्द्रियों के कार्य जब होते हैं तब मन में विकार होता है—वही जीवभाव है! जब मन इन्द्रियों में उतरता नहीं तब भी चाञ्चल्य रह सकता है, यदि इन्द्रियों में उतरने की इच्छा रहे। वही वासना है। जब वह स्थूल में उतर पड़ता है तभी पुनर्जन्म होता है। इन्द्रियों में उतर जब वह इधर उधर संचरण करता है तब देह बद्धभाव समझना होगा। जब वासना नहीं रहती है तब मन निष्क्रिय हो जाता है। यही निर्वाण या मोक्ष है। जिससे मन निर्गत होता है उसी में वह फिर लीन होता है, यदि उसे पृथक् करके न रखा जाय। यदि मन को पृथक् कर के रखना हो तो तो मन का एक लक्ष्य थथवा अवलम्बन चाहिये। यही "विराट् लक्ष्य" है। इसको पाने पर फिर मन के लय की आशङ्का नहीं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रहती। रसगुल्ला जैसे रस में डूबा रहता है, वैसे ही असीम चैतन्य समुद्र में अथवा आत्मा में पृथक् हो कर ही डूबा रहता है। अपना बोध रहता है, जिस असीम वस्तु में वह मग्न है उसका बोध भी रहता है—लीला का साक्षी बन कर वह स्थित रहता है। मन भी तब चैतन्यमय है, आत्मा भी वैसा ही है—पर मन क्षुद्र है और आत्मा महान्। एक दूसरे के आश्रित हैं। यही स्वाधीनता अथवा बाधारहित भाव है। आत्मा से बाहर ही आत्मा की शक्ति का प्रकाश होता है। वहीं से सृष्टि की धारा, लीला आदि की सूचना जाननी होगी। यहीं श्रीकृष्ण का स्तर है—यही सर्वोच्च स्तर है। शिव स्तर भी यही है। शिव जी ने लीला-दर्शन से मुग्ध होकर मानो भोला नाथ का स्वांग रचा है, श्री कृष्ण लीला में सचेतनरूप से भाग लिया है। ध्रुव का स्तर दूसरे प्रकार का है--वह एक प्रकार की मग्नावस्था है। वहाँ मानो ईश्वर में उनका लक्ष्य नहीं है--प्राप्ति से उद्भूत एक विभोर भाव मात्र उनमें दीख पड़ता है। प्रह्लाद की अवस्था इससे उन्नत हे--मालूम होता है कि प्रह्लाद कभी स्वाधीनता प्राप्त कर सकेंगे।

आत्मा मूल में साक्षिमात्र है—मन भी स्वाधीनता पाने पर उसी तरह साक्षी होता है। तब लीला का दर्शन होता है। लीला आत्मशक्ति के द्वारा हो रही है। शक्ति का स्तर अवश्य भिन्न है। जो स्वाधीन होता है वह एक स्तर में मोहित हो पड़ता है, वह फिर और कुछ कर नहीं सकता, क्योंकि जगत् उसके मन में ही नहीं रहता। जगत् का कार्य-साधक स्तर अलग है।

मन सर्भदा घूमा फिरा करता है। जब किसी विषय को लेकर मन स्थिर होता है तब कण्ठ में जाता है। स्थिरता जितनी ही बढ़ती रहती है उतनी ही जीभ के आगे की ओर बढ़ती है। यदि जिह्वा के आगे पहूँच जात तो जड़ समाधि होती है। नासिका के अग्र में भी समाधि होती है। भ्रूमध्य में समाधि नहीं होती--वह ज्योति अथवा रूप के दर्शन का स्थान है। मन उपास्य विषय की चिन्ता में अभिनि-विष्ट होने पर मस्तिष्क में चला जाता है--वहाँ बोध की सहायता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से ही जाता है। परिणाम में चैतन्य समाधि-लाभ होता है। अवसन्न होकर मतिष्क में जाने पर सुषुप्ति होती है। चैतन्य समाधि या जड़ समाधि--कहीं भी शब्द नहीं है।

मूलाधार या नाभिचक्र से निरन्तर शब्द उठ रहा है। उठकर दक्षिण कान के मार्ग से बाहर निकल रहा है। यह शब्द अनाहत ध्वनि से पृथक है। अवश्य, दोनों शब्दों का मूल एक ही है। शब्द के मूल का पता लगाते लगाते मूल प्राप्त हो जाता है। वही जो मै हूं वह उपलब्ध होता है। वहाँ मन रहता है—इच्छा होने पर हीं रूप-दर्शन होता है, शब्द नहीं रहता। यह रूप कुण्डलिनो का ही रूप है—उपास्य रूप है। वह शब्द था उनका (भगवान्) का नाम। देह के बाहर आकाश-भेदी शब्द सुनाई देता है। उसके बाद रूप-दर्शन बाहर होता है। अनाहत शब्द भीतर सुनाई पड़ता है और क्रमशः ध्यान समाधि का उदय होता है। किन्तु वह अच्छा मार्ग नहीं है। तब स्वयं आवद्ध होने का भय रहता है, तब कृपा के पथ बन्ध होता है—स्वाधीनता का रास्ता रहता नहीं।

जितनी देर तक रूपादि अथवा मूर्तिका दर्शन अथवा वार्तालाप होता है उतनी देर तक मन रहता है। अन्यथा मन को उपलब्धि होती नहीं। मन को छोड़ देने पर ही वह मूर्ति मिल जाती है—एकमात्र ज्योति रहती है, उसका बोध नहीं रहता। ज्योति का कोई स्तर नही है, यह सर्व व्यापक है—कारण सूक्ष्म या स्थूल कुछ भी नही है। पर जब स्वातंन्त्र्य रहता है तब मन को छोड़ देने पर भी छोड़ना होता नहीं। साधक जब स्वयं उपास्य के साथ एक हो जाता है तब ज्योति होतो है—उसमें मन भी रहता है। मनका ग्रहण करने पर फिर मूर्ति विकास को प्राप्त होती है। अनाहत शब्द के द्वारा मूर्ति प्राप्त नहीं होती, वार्तालाप नहीं होता। पर ज्योति की उपलब्धि हो सकती है। ज्योति के उदय के पहले तक कर्म रहता है। ज्योति का उदय और शब्द का उत्थान—ये सब ज्ञानात्मक हैं- रूप या मूर्ति भक्ति का स्तर है। कर्म विविध प्रकार के हैं, यद्यपि सभी इन्द्रियों के द्वारा मन के मन्थन स्वरूप

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हैं। मन के द्वारा आत्मा का मन्थन ज्ञान कहा जाता है। ज्ञान आत्मा का निकटवर्ती है ! आत्मा के द्वारा परमात्मा अथवा उपास्य के मन्थन को भक्ति कहते हैं। भक्ति परमामा के निकटस्थ है। ज्ञान से आत्मा और परमात्मा एक हो जाते हैं। वह ज्योतिमात्र है। भक्ति में भेद रहता है, मन रहता है। मूर्ति के विलीन होने पर जो ज्यौति रहती है, उसमें कर्म ज्ञान और भक्ति तीनों का ही समन्वय है। पहले जो ज्योति में अवस्थान होता है वह अपूर्ण हे—वह शुष्क ज्ञान है। उसके पश्चात् भक्ति का उदय होता है। भक्ति के बाद जो ज्योति प्राप्त होती हैं, सब समान-समान ओर स्वाधीन है। प्रथम ज्ञान में परमात्मा का अभाव रहता है। ज्ञान के बाद भक्ति और भक्ति के बाद ज्ञान दोनो ही ठीक हैं। शब्द के मार्ग में सृष्टि की सामर्थ्य उत्पन्न होती है—साधक स्वयं ही अपने उपास्य की सृष्टि करता है। जिस तरह से चाहता है उसी तरह से सोता है—यह प्रचुर आनन्द की अवस्था है, यहाँ यथेष्ट स्वाधीनता रहती है। कृपा प्राप्त करने का मार्ग है—यदि किसी दिन कृपा प्राप्त हो जाय तो यहाँ कारण में जाने की आशा है, परमेश्वर की समता प्राप्ति की संभावना है।

परमात्मा या ईश्वर कारण में है—उनकी मूर्ति के दर्शन दो ही प्रकार से हो सकते हैं। साधक अपनी शक्ति के उत्कर्ष से स्वयं यदि कारण में जाँय तो ऊन्हें अन्यत्र बोध रहेगा नहीं, कारण में ही स्थिति होगी। पृथिवी का ज्ञान तब रहेगा नहीं। तब यदि कोई कारण भूमि में उक्त देवता के निकटवर्ती होगा तो उनके दर्शन पावेगा। परन्तु साधक यदि कारण भूमि तक न जा सकें तो अपने स्थान पर दर्शन पा सकते हैं। किन्तु यह ईश्वर का कारणभूमि त्याग पूर्वक अवतरण नहीं है। ईश्वर कारण भूमि में स्थित होने पर भी सर्वत्र व्यापक हैं—साधक अपने स्थान पर रह कर ही ऊनके दर्शन पा सकते हैं। यह भी सत्य है। यह ईश्वर का आगमन नहों है—आविर्भाव मात्र है। उनका आगमन कारण भूमि त्याग नहीं है—उसका सम्भव नहों।

परमेश्वर के कृपा स्थान दो हैं—जब वह विशिष्ट शब्द जागता है

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जिसे धर कर साधक ईश्वर के दर्शन प्राप्त करता है, ईश्वर में स्थिति प्राप्त करता सै तथा कारण में स्थिति प्राप्त करता है एवं (२) जब कारण से महाकारण में जाता है, दर्शन और स्थिति लाभ करता हैं। महाकारण में जाने की कोई साधना नहीं है—कर्म, ज्ञान और भक्ति वहाँ निष्फल हैं। एक मात्र कृपा यी सम्बल है। वह कब आती है यह कहा नहीं जा सकता। सर्वदा तैयार रहना चाहिये।

महाकारण से जड़ और जीव दोनों की ही सृष्टि होती है। किन्तु चैतन्य सर्वत्र ही है। पहले होता है जड़, बाद में होता है जीव। जड़ में भी स्थूल, सूक्ष्म और कारण हैं। जीव में भी हैं। पर जड़ का सूक्ष्म अचल है, जीव का सूक्ष्म चल है। पहले निम्नतम जीव के रूप में सृष्टि होती है, हाँ होती है स्थूल रूप में। किन्तु सूक्ष्म और कारण भी हैं। क्रम विकास के मार्ग में यह कारण सदा एक ही रहता है। किन्तु यह सब का एक प्रकार का नही है। इस कारण के ही दर्शन अथवा कारण में ही स्थिति लाभ जीव का उद्देश्य है। इसको प्राप्त करने पर ही उसका विकास पूर्ण होता है। निरन्तर जीव सृष्टि हो रही है—यह कारण ही उसकाँ लक्ष्य अथवा आदर्श है। मनुष्यभाव तक प्रकृति के सम्पर्क से विकसित हो उठता है। मनुष्य से ही कर्म का विकास होता है। इस कर्म को धर कर ज्ञानपूर्वक भक्ति में पहूँछने पर कारण सत्ता या परमात्मा का विकास होगा। तब जीवन सार्थक होगा। जीव अपने प्रयत्न से यहाँ तक जा सकता। इसके बाद फिर चेष्टा नहीं चलती। पहले प्रकृति का व्यापार, उसके बाद मनुष्य देह में आकर कर्म का व्यापार, कर्म साम्य होने पर कृपा का संचार, इसके अनन्तर ईश्वर का विकास होता है।

सबकी कारणदेह अथवा आत्मा एक प्रकार की नहीं है। क्षुद्र जीवों की कारणदेह मनुष्य के आकार की, मनुष्य की कारणदेह सर्पादि के आकार, ऐसा भी कभी-कभी देखा जाता हैं। किन्तु कारण सत्ता एक ही है।

ज्योतिजी कहते थे—शब्द धरा जाता है अनुग्रह से। जब तक शब्द है

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तब तक कर्म है—उसके पहले भी कर्म है। ज्योति ही ज्ञान है—तब शब्द नहीं है—कर्म ज्ञान में परिणत हुआ है। पर मन है। इसीलिए बोध है। यह ज्योति प्रकाशरूप चैतन्यात्मक है! इस अवस्था में रूप देखने की इच्छा जागती है एवं इच्छा से रूप का आविर्भाव भी होता है। ज्योति ही रूप होकर विकसित होती है। यह अवश्य कारण जगत् की बात है। तब अपनी कारण देह भी दिखाई देती है—पर वह पास में पड़ी रहती है। रूप के निकट अपना स्थूल रूप दिखाई देता है—उसका वैशिष्ट्य अपनी इच्छा के अधीन है। जितने दिन तक इच्छा मनको रखा जा सकता है। मन का त्याग करते ही रूप ज्योति में विलीन हो जाता है, स्वयं भी वही हो जाता है, अभेद, अद्वैत हो जाता है। पर वह निर्विकल्पसमाधि के तुल्य नहीं है। उस समाधि में भी ज्योति में लय होता है। उस में भी मन नहीं रहता। किन्तु प्रथम अवस्था में मन न रहने पर इच्छा रहती है। क्योंकि स्वेच्छा से वह अवस्था गृहीत हुई है—इच्छा पूर्वक मन का त्याग कर के हुई है। निर्विकल्प समाधि में इच्छा शक्ति रहती नहीं। सविकल्प समाधि में अवश्य रहती है। बाद में उस अवलम्बन को धर कर ही ज्योति अथवा चैतन्य का विकास होता है। तब चैतन्य ही रह जाता है—मन उसमें डूब जाता है।

शब्द के बाद जो ज्योति होती है और रूप का बिलय होने पर जो ज्योति होती है दोनों ही एक समान है, फिर भी भेद है। प्रथम ज्योति का दर्शन स्वभाव के नियम से होता है, दूसरी ज्योति में स्थिति होती है स्वेच्छा से।

जो मन का त्याग कर रूप को मिलाकर ज्योति होगा वह ज्योति में मिलेगा, उसकी स्थूल देह का अन्त होने पर सूक्ष्म देह ज्योति में विलीन होगी। कारणदेह कारण जगत् में रह जाती है उसका लय नहीं होता। ज्योति द्रष्टा है, महाकारण भी द्रष्टा है—जो उस कारण देह को देखता है। जो ज्योति में डूब जाता है वह कुछ भी नहीं देखता। जो ज्योति में डूबता है वह कारण देह को "मैं" रूप में जान नहीं पाता—कारण देह में उसकी स्थिति नहीं होती।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मन शब्द राज्य का सहज में भेद नहीं कर सकता। वह बहुत बड़ा आनन्दमय, रसमय स्थान है। वहाँ जाते ही आनन्द में एक बार शिथिल और निष्क्रिय हो पड़ता है या लीन हो जाता है। आनन्द से अपने को बचा नहीं सकता। अथवा वहाँ इष्ट वस्तु की उपलब्धि होती है। तब मन रहता है। किन्तु शब्दमण्डल का भेद होता नहीं। यही समाधि है। पहली निर्विकल्प समाधि है, वहाँ मन विलीन रहता है। और दूसरी सविकल्प है। पहिली को मैं 'सूषुप्ति' ही कहूँगा, क्योंकि वह बोधहीन अवस्था है। उसके अतिरिक्त वह पराधीन दशा है, क्योंकि तब दूसरे को इच्छा से व्युत्थान होता है। फिर जो व्युत्थित होता है वह भी नवीन वस्तु है। 'मैं' तो रहा ही नहीं। पूर्णता अथवा स्वाधीनता यह नहीं है।

वास्तव में शब्दस्तर भेद करने पर पहले सृष्टि सामर्थ्य आती है। तब 'मैं' ही सृष्टिकर्ता हूँ। इच्छानुसार 'मैं' ही सब होता हूँ। मेरे सिवा दूसरा कोई नहीं है—एक मात्र मैं ही हूँ। इच्छामात्र से एक में बहुत मैं हो जाता हूँ। बहुत मैं होकर ही स्वभाव में पड़ जाता हूँ। इच्छा की पूर्णता अपने आप ही हो जाती है। यह इच्छा ही शक्ति है।

भेद करने के लिए कृपा चाहिये। भगवान् के अनुग्रह (कृपा) के बिना वह होता नहीं। उसके लिये दूसरा कोई उपाय नहीं है। वह अवस्था होने पर आत्मा द्रष्टा हो जाता है, परमात्मा होता है।

भगवान् की ही इच्छा से सृष्टि होती है—वे बहुत होकर अवतीर्ण होते हैं और द्रष्टारूप में वे ही प्रतिष्ठित रहते है।

योग की अवस्था में जब मन ब्रह्मतालु मे जाता है तब वहाँ उसे शब्दादि प्राप्त होते नहीं। वह वहाँ अपने को बचा नहीं सकता—बोध शक्ति रख नहीं सकता। कृपा से भी मन वहाँ जा सकता है, सुषुप्तिमें तो अपने आप हो जाता है। मन आश्रय न पाकर वहाँ जाता है। आकस्मिक मृत्यु में मन निराश्रय होने पर भी वहीं जाता है। मन को कंण्ठ मे चढ़ा लेने पर भी यह अवस्था होती है

बचा क्यों नहीं सकता? इसलिए नहीं बचा सकता है कि शब्द

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आदि जो कुछ पहले सुना गया उसके साथ परिचय नहीं रहता। देह की सम्पूर्ण अवस्थाओं का मूल ही यही है।

किन्तु यह शून्य--बोधहीन निर्वाण की अवस्था है। यह यदि न हो तो सुषुप्ति नहीं हो सकती। मन के वहां जाने पर ही सुषुप्ति होती है। सुषुप्ति से लौट क्यों आता है। चैतन्यरूपी नित्यवस्तु ठीक जगहमे ही रहती है, इसलिए लौट आता है। योग आदि के द्वारा वहां जाने पर फिर लौट नहीं सकता। मन को वहाँ ले जा सकने पर द्वैव अथवा भावी कुछ भी नहीं रहता। इसीलिए वह मूल अवस्था है। वह सहस्त्रदल का केन्द्र है—सहस्रदल उसकी डाली-पत्ती है। उसमें भांति भांति के दृश्य हैं।

कारण जगत् और सूक्ष्म जगत् के बीच मे ज्योति का व्यवधान है। ज्योति निर्लिप्त, निरञ्जन, स्थिर, चैतन्य है, किन्तु कारण जगत् विकास-मय है। वह एक स्तर है। यद्यपि वह ज्योतिर्मय है, फिर भी उसमे वैशिष्ट्य है। कारण और सूक्ष्म के मध्य भवसागर है। एक वस्तु के ही दो पहलू है, एक प्रकाश का दूसरा छाया का।

स्थूल और सूक्ष्म के बीच में व्यवधान नहीं है, सूक्ष्म और कारण में व्यवधान है। सूक्ष्म मे साधारण दृष्टि से कारण दिखाई नहीं देता—भव-समुद्र से ढका रहता है। ज्ञानी पुरुष देख पाते हैं। कारण जगत् से यातायात होता है वह क्रियाशील है, पर स्थिर है—किन्तु सूक्ष्म में स्थिति नहीं है।

स्थूल देह में कारण पर स्थिति नहीं होती—केवल दर्शन हो सकता है। कारण में अहंभाव ही स्थिति है। ठीक ठीक वह (कारण में अहं-भाव) होने पर स्थूल में लोटा नहीं जा सकता। कारण में भी इच्छा-शक्ति की सत्ता है, जैसे कि ज्योति में है। पर ज्योति में इच्छा का विकास नहीं है-विकास करना पड़ता है एवं किया जाता है। कारण मे इच्छा विकसित अवस्था मे ही है। कारण जगत् एक वैचित्र्यमय जगत् है, अति आनन्दमय स्थान है। वहां से महाकारण में जाकर स्थिति प्राप्त नहीं की जा सकती।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जब रूप को स्फुरित करने की इच्छा का विकास हो तब रूप को डूबाना नहीं चाहिये। स्वयं इच्छा कर मन को डुबाये बिना रूप डूबता नहीं—रूप नित्य है। इस अवस्था में महाकारण के अनुग्रह के लिए आकाङ्क्षा करनी चाहिये। जन्म के बाद जन्म बीते, क्षति नहीं। कर्म रहता है सही, किन्तु ज्ञान रहता है, इच्छा का बल रहता है, कहाँ किस प्रकार से जन्म होगा सब कुछ पहले से ही देखा जा सकता है। बोध तो रहता ही है। पर इच्छा पूर्वक बोध को दबा कर अज्ञानी बना जा सकता है। जितने दिनों के लिए इच्छा हो उतने दिनों तक अज्ञानी होने में सुविधा है अनुग्रह प्राप्ति की दृष्टि से। जितने समय के लिए अज्ञान का ग्रहण हो, उस समय की अवधि बीतने पर ज्ञान अपने आप ही प्राप्त होता है।

जिस रूप में मेरी स्थिति है वही मेरा स्वरूप—कारण देह, आत्मा, द्रष्टा है।

अब ज्योतिजी की कथा समाप्त हुई। वास्तव में कथा की समाप्त हुई नहीं, क्यों कि बहुत दिनों के घनिष्ट संसर्ग से बहुत विषयों में आलोचना हुई हैं एवं क्रमशः बहुत बाते संचित हुई है। सब बाते कहने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हो रही है। धर्म जीवन के सम्बन्ध में उनके अपूर्व जीवन और अभिज्ञता के सारांश का संकलन करना ही उद्देश्य था, वह किया गया है। इसलिए यहीं पर उनकी कहानी का उपसंहार करना उचित प्रतीत हुआ। न मालूम कभी उनकी जीवनी प्रकाशित होगी या नहीं। वे जिस प्रकार अविख्यात और अज्ञात रूप से जीवन व्यतीत कर गये हैं उससे बहुत ही कम लोगों को उनके जीवन की गंभीरता जानने का सुयोग प्राप्त हुआ है। यदि कभी उनकी जीवनी प्रकाशित होगी तो संभवतः ये कथाएँ काम आवेगी। ये कथाएँ विषयानुसार नियमित रूप से सजाई नहीं गई हैं, शायद कहीं-कहीं पुनरुक्ति भी हुई है। फिर भी इससे उनके जीवन की अभिज्ञता का वैशिष्ट्य सुस्पष्ट रूप से हृदयंगम होगा। वे बाह्य दृष्टि से साधु नहीं थे, किन्तु मुझे प्रतीत होता है कि वे बहुत साधुओं के वन्दनीय थे। वे एक वास्तविक मनुष्य थे,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यही उनका सार्थक परिचय है। उनके जीवन और चरित्र के बहुत से पहलुओं को निकट से देखने का मुझे अवसर प्राप्त हुआ है। मेरा विश्वास है कि इस प्रकार का एक विशुद्ध मानव सारे संसार दिखाई नही दे सकता। "साधना और कर्म का मिलन" ग्रन्थ में उनके बाल्यकाल की एक घटना प्रकाशित हुई थी। उनके जीवन के पथ प्रदर्शक उन संन्यासी महापुरुष का एक चित्र भी मैंने देखा है। चित्र अपूर्व हैं—देखने में एक जिसकी मोछ दाढी नहीं निकली ऐसे किशोर के तुल्य प्रतीत होते हैं। मुखमण्डल अपूर्व भावावेश और उज्ज्वल महिमा की दीप्ति से मण्डित है।

उनके लौकिक जीवन का परिचय प्रकाशित करना मुझे उचित प्रतीत नही होता।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तत्त्वज्ञी महात्मा की कथा

लगभग बयालिस वर्ष व्यतीत हुए मेरे एक अन्तरङ्ग मित्र मेरे साथ भेंट कर बोले, "बङ्गाली टोला में गरुड़ेश्वर मुहल्ले के निकट एक ज्ञानी महापुरुष का आगमन हुआ है। हम कई लोग उनके समीप गये थे, किन्तु हम लोग उनकी सब बातें समझ न सके। महात्मा विशेष ज्ञानी हैं यह उनकी बातचीत और व्यवहार से स्वष्ट ही जान पड़ता है। मेरा विश्वास है, उनके साथ आपका वार्तालाप होने पर आप खूब प्रसन्न होंगे।" मैने यह समाचार पाकर महापुरुष के साथ भेंट करने के लिए दूसरे दिन गरुड़ेश्वर, उनके वास स्थान पर, जाने का संकल्प किया।

तदनुसार दूसरे दिन अपराह्न में एक मित्र के साथ महापुरुष के निवासस्थान पर जा पहुँचा। देखा महात्मा एक कमरे मे, जो बहुत बड़ा न था, एक छोटी चौकी पर बैठे और उपस्थित कई भद्र पुरुषों के साथ ज्ञानचर्चा कर रहे हैं। मेरे जाने के बाद ज्ञानचर्चा बन्द हो गई एवं महात्मा की दृष्टि ओर ओर से हट कर मेरी ओर आकृष्ट हुई।

महात्मा के पहनावे में गेरुवा वस्त्र थे एवं शरीर वृद्ध होने पर भी योगियों के अनुरूप स्वच्छता और स्फूर्ति से सम्पन्न था। वे शास्त्रीय ज्ञान की दृष्टि से पण्डित नहीं थे एवं संस्कृत भाषा में भी उनका उतना अधिकार नहीं था। फिर भी वे ज्ञान विज्ञान सम्पन्न रहस्यवेत्ता महापुरुष थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। उन्हें किसी विषय में संशय नहीं था। सर्वत्र ही उनकी बुद्धि की गति अप्रतिहत थी। उनके सिद्धान्त और साधना दोनों में ही एक नूतन विशेषता थी, इसको अनुभूति सम्पन्न साधक के सिवा और सब सहज में आंक नहीं सकते थे। वे जब जिस तत्त्व की व्याख्या करते थे तब उसी ज्ञान के दिव्य आलोक से आलोकित हो उठते थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वार्तालाप के सिलसिले में मैंने उनसे पूछा, "मनुष्य के जीवन का लक्ष्य क्या ?" इसके उत्तर में उन्होंने बहुत सारगर्भित बातें कहीं थीं एवँ सरल भाषा में और यथोचित सरल प्रणाली में उन्होंने अपना वक्तव्य स्पष्ट कर समझाने की चेष्टा की थी। उन्होंने कहा, "साधारणत: मनुष्य लक्ष्यहीन हैं—काल के प्रवाह में घटना के आघात से इधर उधर बहकर चक्कर खा भटक रहा हैं। किन्तु मनुष्य स्थिर हुए बिना अपने यथार्थ लक्ष्यको पहिचान नहीं सकता एवं शान्ति प्राप्त नहीं हो सकता। मनुष्य ज्ञान की खोज कर ज्ञान प्राप्त होने पर उसके आलोक में सत्य का पूर्ण रूप देख पाता है। तब आवागमन से मुक्त होकर शाश्वत शान्तिपद को प्राप्त होता है।"

मैने पूछा, "इस ज्ञानालोक को प्राप्त करने में मनुष्य का अवलम्बन क्या है ? मनुष्य अपने पुरुषार्थ द्वारा अपने में इस ज्ञान को स्फुरित कर सकता है अथवा वाह्य गुरु से उसे इस ज्ञान के आलोक को ग्रहण करना चाहिये ?"

महात्मा जी ने कहा, "बाहर का गुरु अथवा भीतर का गुरु जो ही क्यों न कहा जाय, गुरु एक ही वस्तु है। गुरु से जिज्ञासु शिष्य को कुछ ग्रहण करना ही पड़ता है। स्वयं विनत होकर गुरु के चरणों में आत्मसमर्पण करने पर वे उसको तत्त्व का उपदेश प्रदान करते हैं एवं उसके चलने का मार्ग बतला देते हैं। गुरु का प्रधान कार्य अनुगत शिष्यको मुक्ति प्रदान करना है, मुक्ति प्रदान करने का अधिकार और किसी को नहीं है। अनादि काल से जीव मायापाश से बँधा हुआ है। वह स्वतन्त्रता पूर्वक चल नहीं सकता तथा चलना जानता भी नहीं। बंधन से मुक्त हुए बिना पथ पर चला नहीं जाता, यहाँ तक यात्रा भी आरम्भ नहीं हो सकती, गन्तव्य स्थान की प्राप्ति अथवा सिद्धि लाभ तो दूर की बात है।"

मैंने पूछा, "गुरु ही यदि मुक्ति प्रदान करते हैं तो फिर शिष्य का कर्तव्य क्या शेष रहा ? मुक्ति ही तो लक्ष्य है। वह यदि गुरुकृपा से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राप्त होती है तो फिर साधना का प्रयोजन क्या ? वह स्पष्ट कर समझाने की कृपा करें।"

महात्मा ने कहा, "गुरु मुक्ति प्रदान करते हैं। उसके अनन्तर मुक्ति-लाभ कर शिष्य साधन करना आरंभ करता है। तब उसका नाम पड़ता है साधक। साधना पूर्ण होने पर उसका नाम होता है सिद्ध। सिद्धि लाभ ही साधना का उद्देश्य है, वही मानव-जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। तीन क्रम हैं—मुक्ति, साधन और सिद्धि। सिद्धि ही धर्म है, उसे मैं स्थिति कहता हूँ। गीता में जो ब्राह्मी स्थिति की बात कही गई है वह यही सिद्धिरूप स्थिति है। धर्म का वास्तविक स्वरूप इस स्थिति की प्राप्ति है। जिससे यह स्थिति प्राप्त हो जाती है वह भी धर्म कहला है। किन्तु मुक्ति और साधना के बिना यह स्थिति प्राप्त नहीं की जाती एवं मुक्ति के बिना साधना का आरंभ ही नहीं होता। इसलिए मुक्ति ही सब की जड़ है। इसीलिए अध्यात्मपथ पर यदि चलना हो तो सर्वप्रथम मुक्ति लेनी होगी—उसके उपरान्त और बात। मुक्ति का दूसरा नाम सन्देह भञ्जन अथवा विश्वरूप दर्शन या रहस्य-भेद है।"

मैंने महात्मा जी से जिज्ञासा की—"आपके कथन से प्रतीत होता है कि आप कहना चाहते हैं कि बद्धजीव अग्रसर हो नहीं सकता। उसे पहले मुक्त होना चाहिये। जब तक वह बंधा रहेगा तब तक उसका चलना संभव नहीं। जिस किसी प्रकार से उसके अङ्ग प्रत्यङ्ग से गति को रोकने वाले बन्धन का भार हटाना होगा। तब उसके लिए अङ्ग संचालन संभव होगा।"

महात्मा—हां, यही बात है। किन्तु यह बन्धन क्या है ? इस समय उसीको कह रहा हूँ। हम लोग जीवन में प्रत्येक व्यक्ति तीन वस्तुओं को अपनी समझकर जकड़ कर रखे हुए है। उनमें पहली वस्तु है पूर्व संस्कार या मोह, दूसरी है कर्तृत्व बोध अथवा अहंकार एवं तीसरी है फलाकाङ्क्षा। इन तीन का त्याग करना चाहिये। इनमें पूर्व संस्कार का सम्बन्ध अतीत काल के साथ है, कर्तृत्त्व बोध का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्बन्ध वर्तमान के साथ है और फलाकाङ्क्षा का सम्बन्ध भविष्य के साथ है। जगत् के जितने प्रकार के कार्य हैं विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि वे सब ही इन्द्रिय आदि के अथवा मन के कार्य के सिवा और कुछ नहीं हैं। वास्तव मे इन्द्रिय अथवा कोई व्यापार ही अच्छा नहीं है बुरा भी नहीं है। क्योंकि कर्म भला या बुरा नहीं है—किसी भी कर्म को वस्तुतः सु अथवा कु नहीं कहा जा सकता। शुभ अथवा अशुभ कोई भी भेद कर्म में संभव नहीं है। किन्तु पूर्व संस्कार अथवा मोह आदि तीन को अपने साथ चिपटा लेकर कर्म करने पर सभी कर्म बुरे अथवा अशुद्ध हैं। दूसरे पक्ष में पूर्व संस्कार आदि का त्याग कर कर्म कर सकने पर वह अच्छा अथवा शुभ है। जिससे स्थिति नहीं होती वल्कि स्थितिलाभ में बाधा उत्पन्न होती है वही बुरा है एवं जिससे स्थिति-लाभ में सहायता मिलती है वही अच्छा है। बुरे कर्म को अधर्म और भले कर्म को धर्म जानना चाहिये। जिससे श्वास प्रश्वास की गति स्थिर नहीं होती बल्कि बढ़ती है वही अधर्म है, जिससे वह गति शान्त होतो है वही धर्म है। वास्तव में कर्म के स्वरूप में यह धर्म और अधर्म निहित नहीं है। इसलिए पूर्व संस्कार अथवा मोह से, कर्तृत्व अभिमान अथवा भावी फल की आकाङ्क्षा लेकर जो कर्म किया जाता है वही अधर्म है—वह चाहे जो कोई कर्म हो यह देखने की आवश्यकता नहीं है। इन सब बन्धनों से मुक्त होकर जो कर्म किया जाता है वही धर्म है।

महात्मा ने प्रथम दिन अनेक बातें कही थीं--यही उनका सारांश है। मैंने महात्मा का नाम प्रकट किया नहीं। केवल तत्सङ्गी कह कर उनका उल्लेख किया है। तत् शब्द ब्रह्म का निर्देशक है—यही परम वस्तु का वाचक या द्योतक शब्द है।

महात्मा लगभग दो महीने काशीधाम में रहे। मैं बीच बीच में उनका सङ्ग करता एवं सत्प्रसंग की आलोचना करता था। क्रमशः उनके साथ घनिष्ठता हुई थी। तब उनकी अमूल्य ज्ञान सम्पदा के परिचय-लाभ का अवसर प्राप्त हुआ था। किस दिन उनके साथ किस

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बात की चर्चा हुई थी उसका निर्देश न कर उनके अनुभूत सिद्धान्त के संबन्ध में यथा संभव संक्षेप में कुछ कहता हूँ।

प्रकृति के सम्बन्ध में आलोचना के प्रसंग में एक दिन उन्होंने कहा —"परा प्रकृति की बात इस समय कुछ कहूँगा नहीं। अपरा प्रकृति की बात ही इस समय कह रहा हूँ इन्द्रियाँ आदि अपरा प्रकृति के नाम से प्रसिद्ध हैं। यह नाना विभागों में विभक्त है। इन्द्रियों के व्यापार को विज्ञान कहते हैं एवं मन के व्यापार को ज्ञान कहते हैं। इन दोनों व्यापारों को एकत्र कर सकने पर ही मनुष्य की सारी कमी दूर हो जाती है। प्रकृति के धर्म दो हैं—यह जीव को भगवान् के निकट पहुँचा देती है। फिर, यही जीव को भगवान् के निकट से दूर भी ले जाती है। किंतु वास्तव में प्रकृति में क्रोध भी नहीं है और क्षमा भी नहीं है—प्रकृति एक ही है। पूर्वोक्त पूर्वसंस्कार आदि के कारण प्रकृति जीव को भगवान् से दूर फैक देतों है, उनका त्याग करने पर फिर प्रकृति ही जीव को भगवान् के निकट खींच लातो है। पूर्व संस्कार आदि का त्याग हो जाने पर ही साधना का आरंभ होता है अर्थात् जीव की भगवदभिमुख गति का सूत्रपात होता है। जीव साधना नहीं करता, प्रकृति ही अपना कार्य किये जाती है—जीव जब प्रकृति के कार्यं में बाधा नहीं डालता तब-प्रकृति का वह कार्य ही जीव के लिए साधन रूप में परिगणित होता है।

वे कहते थे—"मन सहस्रार में रहता है। सृष्टि के पूर्वंव हीं उसका स्थान है। किन्तु सृष्टिकाल में सहस्रार में स्थित मन सहस्रार से तीव्र वेग से नीचे उतर आता है और क्षणभर में ही छह चक्रो का भेद कर मूलाधार में पहूँच जाता है। कोई भी उसे रोकने वाला नहीं है। मन जब नींचे उतरता है तब उसकी गति अबाधित होती है। किन्तु मन केवल अकेला ही नहीं उतरता, उसके साथ शब्द या शब्दमोह, अहङ्कार अथवा कर्तृत्वबोध आदि भी रहते हैं। मनको मूलाधार में न आने तक रोकटोक का सामना नहीं करना पड़ता, किन्तु मूलाधार में आकर वह धक्का खाता है, उसकी गति प्रतिहत होती है। दूसरे संकल्प

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का उदय होता है। मन जिस संकल्प से सहस्रार से नीचे उतर आता है वह प्रथम संकल्प है। वही आदि संकल्प है। यदि दूसरे संकल्प का उदय न होता तो मन अपने आप ही तीव्र वेग से मूलाधार से सहस्रार में लौट जाता, किसी प्रयत्न का प्रयोजन नही होता। स्वभाव से ही चला जाता। आया है स्वभाव से, जाता भी स्वभाव से। किन्तु दूसरी वार के संकल्प का उदय होने से स्वभाव की गति बाधित हो जाती है। मुक्ति पाने के माने हैं इस बाधा (रुकावट) को हटाना। यदि दूसरी वार का संकल्प न करे तो कुण्डलिनी शक्ति स्वभावतः तत्क्षण जाग जाय, साथ-साथ ब्राह्मी-स्थिति प्राप्त हो जाय--किसी को भी कुछ करना धरना न रहे।

प्रथम संकल्प करना नहीं पड़ता, वह अपने आप ही होता है। द्वितीय संकल्प करना पड़ता है। आदि संकल्प ईश्वर का है और द्वितीय संकल्प जीव का है। प्रथम में बन्धन नहीं होता, दूसरे में बन्धन होता है। द्वितीय वार संकल्प न उठने पर कुण्डलिनी-मुख अपने आप ही खुल जाता है। किन्तु साधारणतः होता क्या है ? हम लोग दूसरी वार संकल्प करते हैं – उसके कारण कुण्डलिनी से मन टकरा कर इड़ा और पिगंला नाडियों के योग से इन्द्रिय-द्वार में जाता है। इस प्रकार मन चक्षु आदि इन्द्रिय स्थान में जन्म ग्रहण करता है। जब हम रूप देखते हैं तब अहङ्कार चक्षु से उत्पन्न हुआ है, यह जानना होगा। देखने के समय तक उस स्थान में उसकी स्थिति होती है। जड़ वस्तु का लय अवश्यम्भावी है, इसलिए उसके वाद लय होता है। ये जन्म और मरण अहङ्कार के हैं—अहं या आत्मा के नहीं है। आत्मा स्थिति स्वरूप है। श्वास-प्रश्वास ही यह जन्म मरण है। श्वास प्रश्वास या जन्म-मृत्यु में विचरण करने के माने हैं पथभ्रष्ट पथिक का पथ अन्वेषण करना। मन सुषुम्णा पथ में प्रवेश करने में समर्थ न होकर इड़ा और पिङ्गला पथ में भटकता रहता है। इसीको कालचक्र कहते हैं। इसीका नामान्तर संसार है।

तव क्या पूर्वसंस्कार - शब्द मोह आदि खराब हैं ? यह बात नहीं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। कोई भी वस्तु खराब नहीं है, स्वभाव में रहने पर सभी अच्छे हैं। स्वभाव भ्रष्ट होने पर व्यवहारवश अच्छा और बुरा ऐसा द्वन्द्व होता है। प्रथम बार जो संकल्प उठता है वह उन संस्कार आदि तीनों को लेकर इकट्ठे उठता है। उस संकल्प के बाद फिर द्वितीय आदि संकल्प न होने पर वही सत्य संकल्प हुआ। वही सत्यवादिता है, वही अहिंसा है, वही सरलता है और वही धर्म है, क्योंकि उसी में स्थिति होती है। वही ब्रह्मचर्य या ब्रह्माचार है। फिर दूसरी वार संकल्प उठते ही वह हुआ व्यभिचार, वर्णसंकर इत्यादि।

ब्रह्मचर्य की सूक्ष्म व्याख्या के प्रसंग में बाबा जी ने कहा—श्वास बाहर होता है माने 'हं' अर्थात् प्रकृति को सामने रख कर ब्रह्म असीम से ससीममें आते हैं। श्वास भीतर जाता है माने 'स':--अर्थात् प्रकृति को पिछे रखकर वे ससीम से असीम में जाने है। यह हंसः, या श्वास-प्रश्वास अथवा सृष्टि-प्रलय निरन्तर हो रहे हैं। यदि 'हं' का बिन्दु एवं 'स': के विसर्ग गुरु प्रदत्त कौशल द्वारा द्विदलं से एक किये जायँ तभी ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है!

जरा गौर कर के देखने पर मूल रहस्य समझे में आ सकता है। ब्रह्म का आचार या आचरण ही ब्रह्माचार अथवा ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म जैसे कर्म करते हैं अथच निष्क्रिय रहते हैं वैसा होने पर ही ब्रह्मचर्य सम्पन्न होता है। ब्रह्म जो कर्म करते हैं वह प्रसिद्ध है। यदि वे कर्म न करते तो हम लोगों में हाथ हिलाने डुलाने की भी क्षमता न रहती। पर कर्म द्वारा वे लिप्त नहीं होते, क्योंकि उनमें द्वितीय संकल्प उठता नहीं, इसलिए वे द्रष्टा ही रहते हैं। वे कर्त्ता होकर भी कर्त्ता नहीं है, द्रष्टा मात्र है—फिर, द्रष्टा होकर भी कर्त्ता है। वे कर्म या सृष्टि करते हैं किस प्रकार? उसकी प्रक्रिया यो है। मन सहस्रार में है। इससे वे पूर्व संस्कार या मोह ग्रहण करते हैं, उसके वाद कर्ता का स्वांग धारण करते हैं और फल कामना (सृष्टि) करते हैं। तब शब्द की सृष्टि होती है। इसी का नाम प्रथम संकल्प है। इस शब्द को लेकर मन सहस्त्रार से बाहर निकल कर, छह चक्रो का भेद कर नीचे उतर पड़ता है। मूलाधारं के नीचे आने पर फिर पूर्व संस्कार आदि तीन उससे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लिपट जाते हैं, तब भ्रम होता है। फिर लौटने का पथ पाता नहीं। यही द्वितीय संकल्प है। यह यदि न होता तो ब्रह्मचर्य ठीक रहता अथवा ब्रह्मचर्य अक्षुण्ण रहता।

अष्टाङ्ग योग के विश्लेषण के प्रसङ्ग में महात्मा जी कहते थे—अष्टाङ्ग वास्तव में मुक्ति, साधना और सिद्धि का ही नामान्तर है। यम, नियम और आसन—ये तीन मुक्ति के अन्तर्गत हैं। प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान—ये चार साधना के अन्तर्गत हैं। समाधि ही सिद्धि है। यम शब्द से सञ्चार शक्ति का बोध होता है। इस शक्ति का अधिकार स्थिर अथवा स्तिमित वायुतक ही जानना चाहिये। नियम शब्द का अर्थ आवागम है—अर्थात् एक वार संहार, तदनन्तर फिर सृष्टि, फिर संहार तदनन्तर फिर सृष्टि इत्यादि। अर्थात् जन्म-मृत्यु को ही नियम समझना चाहिये। आसन को दो अवस्थाएँ हैं, एक है पूर्वावस्था और दूसरी है उत्तरावस्था। पूर्वावस्था को जड़ समाधि कहते हैं। यह शून्य में स्थिति अर्थात् स्थिर सुख अवस्था है। तब वायु का चलना फिरना बन्द रहता है, श्वास की क्रिया नहीं रहती, सुषुम्ना में स्थिति होती है। किन्तु यह सज्ञान स्थिति नहीं है। इसी लिए अति दीर्घकाल तक स्थिति होने पर भी उसकी सिद्धि के रूप में गणना नहीं की जा सकती। उत्तर अवस्था में विश्वरूप दर्शन, रहस्य भेद और संशय का उच्छेद होजाता है। यह चमक के तुल्य केवल एक क्षण के लिए होता है—स्थायी रूप से नहीं होता। फिर भी इस क्षणिक प्रकाश का ही ऐसा अचिन्त्य प्रभाव है पूर्व संस्कार या शब्द मोह, कर्तत्वबोध या अहङ्कार और फल की आकाङ्क्षा—ये सब तिरोहित हो जाते हैं। सिद्धावस्था का साक्षात्कार यह ही है, पर यह क्षण भर के लिए होता है। इस क्षणिक ब्राह्मी स्थिति में ही साधना का आरंभ होता है। जब तक सज्ञान में एक घण्टे तक स्थिति नहीं होती तब तक साधना चलती है। सुषुम्णा में एक घण्टा रह सकने पर ही नित्यस्थिति या सिद्धिलाभ होता है। तब फिर काल का नियम नहीं रहता। एक घण्टा सुषुम्णा में, एक घण्टा इड़ा में और एक घण्टा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पिङ्गला में स्थिति है अर्थात् एक अहोरात्र में ८ घण्टा सुषुम्णा में और बाकी १६ घण्टा इड़ा और पिङला में स्थिति होती है। व्यवहार के लिए १६ घण्टे और परमार्थ के लिए ८ घण्टे हैं। इच्छा होने पर कभी बेशी कीं जा सकती है। सब तब अपने अधीन होता है।

तत्सङ्गी बाबा जी के मतानुमार मुक्तिलाभ ही कठिन है। एक वार मुक्ति प्राप्त कर सकने पर साधना और सिद्धि अपने आप ही होती हैं। ये सहज काम हैं। क्योंकि इन में कुछ भों तो करना नहीं पड़ता। कुछ न करना पड़े इसीलिए तो पहले मुक्ति लेना आवश्यक है। मुक्ति हो जाने पर अपने कर्तृत्व आदि अथवा द्वन्द्वों के न रहने के कारण प्रकृति अपने आप ही पुरुष के अभिमुख गमन करती है। यह गति स्वाभाविक और निर्बाधा है। इसी का नाम साधना है। वैष्णवों को भाषा में इसी का नाम 'अभिसार' है। द्विदल में एक घण्टा सज्ञान (होश हवाश) में स्थिति जब तक न हो तभी तक साधना या प्रकृतिका गमन होता है अर्थात् साधना या प्रकृति चलती है। एक घण्टा स्थिति होते ही प्रकृति का अभिसार पूर्ण होता है, तब साधना के अन्त में सिद्धिलाभ होता है। यही भक्ति या भगवान् का साक्षात्कार है। तब प्रकृति पुरुष हो जाती है। परा प्रकृति और पुरुष का आपाततः एक रूप से ही ग्रहण करना बनता है।

और एक बात तत्संगी बावा कहते थे। वे कहते थे—यदि किसी उपाय का अवलम्बन द किया जाय अथवा यथाविधि साधना न की जाय तो भी किसी न किसी समय सभी की ब्राह्मी स्थिति अवश्य ही होगी। पर यह सुदीर्घ काल की वात है। ५०, ००० पचास हजार वर्षों के वाद प्रत्येक की स्थिति होगी ही। एक एक का भेद करने में १०,०८० वर्षों की आवश्यकता होती है। इस सुदीर्घ काल के अन्त में द्विदल में एक घण्टा स्थिति प्राप्त होगी, उसका फल ही सिद्धि है। द्विदल में एक घण्टे तक अनवच्छिन्न भाव से रह सकने पर ब्राह्मी स्थिति होती है। वाह्य जगत् ६० हजार वर्षों में द्विदल स्यिति लाभ करता है, इस लिए उस समय में व्यष्टि भाव से भी सब को ब्राह्मी स्थिति लाभ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अवश्यम्भावी है। मध्य मार्ग में श्वासके समय बाह्य जगत् द्विदल में क्षण भर के लिए स्थिति-लाभ करता है। यही नियम है। बाबा जी के इस सिद्धान्त को सब लोग ग्रहण कर सकेंगे या नहीं यह मैं नहीं जानता।

वे कहते थे, द्विदल के बाद फिर मानव गुरु का उपदेश नहीं चलता, तब साक्षात् जगद् गुरु ही भार ग्रहण करते हैं। द्विदल से सहस्रार में गति किसी साधन की अपेक्षा नहीं रखती, वह अपने आप ही होती है। द्विदल में जो समाधि होती है उसका नाम सविकल्प समाधि है। इस समय सर्वत्र ब्रह्म दर्शन होता है और ब्रह्म में सर्व भूतों के दर्शन होते हैं। इसलिए यह भेदाभेद अवस्था है। किन्तु इसके बाद पूर्ण भाव से ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। तब 'सर्वत्र' भी नहीं रहता एवं 'लर्वभूत' भी नहीं रहते। तव यथार्थ अभेद अवस्था का उदय होता है। यह अवस्था यदि ठीक ठीक हो जाय और स्थायी रह जाय तो फिर देह रखा नहीं जाता। यह सहस्रार में जा कर स्थिति ग्रहण करने की अवस्था है। तब वहाँ से मन को नीचे उतारना अत्यन्त कठिन है। जब तक कर्म फल का भोग अवशिष्ट रहता है तब तक मन द्विदल में ही रहता है। बीच बीच में सहस्रार में जाता है किन्तु वहाँ उसकी स्थिति होती नहीं—उतर कर द्विदल में आता है।

बाबा जी बहुधा आध्यात्मिक दृष्टि से कालचक्र की व्याख्या करते थे। एक दिन प्रसङ्गतः महा विषुव, जलविषुव आदि ४ चार संक्रान्ति के तत्त्व की व्याख्या उन्होंने की थी। दिन और रात्रि समान होती हैं ऐसे दो दिन एक वर्ष में पाये जाते हैं। और जब दिन सब से छोटा और रात सब से बड़ी एवं जब रात सब से छोटी और दिन सबसे बड़ा होता होता है—ऐसे दो दिन भी वर्ष में पाये जाते हैं। इस प्रकार चार वास्तविक संक्रान्तियाँ प्रत्येक वर्ष घूम फिर कर आती है। उस समय यथासंभव कार्य कर सकने पर बाह्य प्रकृति की सहायता प्राप्त होती है—प्रकृति को दुह सकने पर अमृत की उपलब्धि होती है। द्विदल में नाद विन्दु और विन्दु विसर्ग के एकीकरण को महाविषुव संक्रान्ति कहते हैं। अन्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संक्रान्तियों की बात, चरम उपदेश होने के कारण वे लोगों के सामने प्रकट नहीं करते थे। वे कहते थे ९ वें चैत्र से सौर संवत्सर की गणना करना उचित था—वह हुआ नहीं, इसलिए भीतर और बाहर में कुछ कुछ विषमता रह गई।

वे और भी कहते थे कि यदि पूजा में अधिकार प्राप्त करना हो पहले भूतशुद्धि और उसके उपरान्त चित्तशुद्धि आवश्यक है। भूतशुद्धि वास्तविक कर्मयोग है, चित्तशुद्धि सांख्ययोग है। इन दो योगों की सहायता से जो स्थिति प्राप्त होती है वही भक्ति या भगवान् है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सोहं सिद्ध बाबा का वृत्तान्त

इन बाबा के साथ मेरा परिचय १९२५ ई० के प्रारम्भ में हुआ। मैं तब बड़ादेव मुहल्ले (बनारस) रहता था। बाबा जी ९९ पाण्डे-हौली मुहल्ले में रहते ते। योग के सम्बन्ध में आलोचना के सिलसिले में एक मित्र के सहकार से हमारा मिलना हुआ। वे गरुड़ेश्वर और पातालेश्वर में भी बाद में कुछ दिन रहे थे। उनके प्रत्येक निवास स्थान में गया हूँ एवं कभी कभी वे भी हमारे घर घर आये हैं। वे यद्यपि संन्यासी थे तथापि प्रकारान्तर से गार्हस्थ्य का भार ही बहन करते थे। उनके वहाँ उनकी एक कन्या और नन्हा बच्चा नाती उनके साथ रहते थे। किन्तु उस अवान्तर इतिहास का यहाँ जिक्र करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। वे पहले बहुत समय तक वैद्यनाथ में रहे थे, इसलिए बहुत लोग उन्हें 'बैद्यनाथ बाबा' के नाम से भी पुकारते थे। उनकी अवस्था कितनी थी यह मुझे ठीक मालूम नहीं, फिर भी वे ५० वर्ष के आस-पास के थे ऐसा अनुमान किया जा सकता है। शरीर खूब दृढ़ और वलिष्ठ था, रंग सांबला था, सिर पर जटाएं थी और मुखमण्डल में लम्बी दाढी दो जटा के रूपमें लम्बायमान थी। वे भजन संगीत की रचना करते थे एवं बीच-बीच में तन्मय होकर स्वरचित गान को स्वयं ही गाते थे। स्वर्गीय भीमचन्द्र चट्टोपाध्याय (हिन्दू विश्वविद्यालय के इञ्जिनीयरिङ्ग कालेज-के अध्यापक) और स्वर्गीय सतीशचन्द्र दे (वकील) बहुधा उनके निकट जाने थे। उनके गानों में कई श्यामाविषयक भक्ति पूर्ण और कई अद्वैत तत्त्व और ज्ञान विषयक गाने थे। जितने वर्ष वे काशी में रहते थे प्रायः ही उनके साथ बहुत विषयों में मेरा सत्संग हुआ है। मैं उन्हीं में से कई एक बातों को यहां उद्धृत करना चाहता हूँ। बाबा जी ने कुछ सिद्धि प्राप्त की है, ऐसी प्रसिद्धि थी। इस जगह उल्लिखित प्रसङ्गों से उनका साधनजन्य अनुभव और ज्ञान का परिचय प्राप्त हो जायगा।

बाबा जी कहते थे—मन्त्र साधन के सिवा भगवद् दर्शन प्राप्ति का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दूसरा कोई उपाय नहीं है। उनके मतानुसार हठ योग तथा अन्यान्य साधनों के क्रियादि उपकारी अवश्य हैं, किन्तु ये सब सहायक होने पर भी मुख्य उपाय नहीं है। प्रधान उपाय मन्त्र है। मन्त्र बिहीन हठयोग आदि की क्रिया केवल दैहिक व्यायाम मात्र है। साधक यदि मन्त्र ग्रहण न करे तो इन सब क्रियाओं के द्वारा भगवत्प्राप्ति की कोई भी आशा नहीं की जा सकती। मूलमन्त्र ओंकार है—अनाहत नाद के रूप में वह नित्य सर्वत्र ध्वनित हो रहा है। किन्तु वह अनाहत चक्र से नहीं होता। जहाँ कहीं जो कोई शब्द ध्वनित होता है वह ओंकार या प्रणव का ही विकार है। जागतिक शब्द संघर्ष से अथवा आघात से उत्पन्न होता है, इसीलिए विकार कहा जाता है। किन्तु अनाहत नाद विकार नहीं हैं, वह सब शब्दों की मूल प्रकृति है।

नाद का श्रवण यदि किया जा सके तो क्रमश यह पता लगाना चाहिये कि वह किस स्थान से निकल रहा है। कुछ प्रयत्न करने पर ही इसका पता चल जाता है। इस पता पाने का नाम ही दिव्यचक्षु-लाभ अथवा ज्ञान का उदय है। ओंकार से ही साकार जगत् की सृष्टि हुई है,इसलिए साकार जगत् के सभी स्थानों में ओंकार व्यापक रूप से विराजमान रहता है। जहाँ से यह महाध्वनि निकल रही है उसका नाम महाव्योम है। वस्तुतः वह व्योम और महाव्योम की सन्धि है। मनुष्यमात्र ही सदा मुक्त होने पर भी जब तक पूर्वोक्त ज्ञान प्राप्त कर नहीं सकता तब तक वह स्वयं उपलब्धि नहीं कर सकता। वस्तुतः मनुष्य सोया हुआ है—नाद के सिवा उसको जगाने का दूसरा साधन नहीं है। शब्द ही चैतन्य सञ्चार का वास्तविक हेतु है।

यह जो महामन्त्र की बात कही गई है इसमें विश्वव्यापी विराट् शक्ति निहित है। यह मन्त्र की अपनी शक्ति है। उसके अतिरिक्त उसमें आगन्तुक शक्ति भी क्रिया करती है। जब प्रयोग कर्त्ता प्रयोग करते समय उसमें अपनी शक्ति की योजना करता है तब वह शक्ति भी उसी समय मन्त्र शक्ति के रूप में परिणत हो जाती है। मन्त्र की शक्ति सर्वत्र एक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और अभिन्न होने पर भी प्रयोग कर्ता की सञ्चारित शक्ति के तारतम्य से शिष्य के शक्ति-लाभ में भेद होता है।

मन्त्र गुप्त रूप से कान में देना उचित है—ऐसा होने पर प्रयुक्त की गई शक्ति सर्वांश में शिष्य रूप आधार में प्रविष्ट हो सकती है। इधर-उधर बिखर कर नष्ट नहीं हो सकती। कानमें न देकर सामने-सामने मन्त्र का उच्चारण करने पर मन्त्र की पूर्ण शक्ति शिष्य के निकट नहीं पहुँचती—बहुत कुछ बाहरी वायुमण्डल में बिखर जाती है। शिष्य रूपी आधार पहले से यदि तैयार रहता है तो मन्त्र देने के साथ ही उसमें चैतन्य होता है। मन्त्र शक्ति का ह्रास नहीं होता और शिष्य को प्रबुद्ध करने में विलम्ब नहीं लगता। अन्यथा शिष्यको क्रमशः तैयार कर चेतन करना पड़ता है। सूखे कपड़े में आग लगाने पर जैसे वह तत्क्षण जल उठता है किन्तु भीगे या गीले में आग लगाने पर पहले जल सूखता है, तदनन्तर कपड़ा जलता है। दाहिका शक्ति की क्रिया दोनों जगहों में रहती है—इसे भी ठीक वैसे ही समझना चाहिये।

यदि किसी व्यक्ति का उद्धार करना या ऊपर उठाना ही तो चढाने वाले की शक्ति का प्रयोग आवश्यक है। साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि व्यक्ति भी यथाशक्ति चढ़ ने की चेष्टा करे, कम से कम चढ़ने में वाधा न दे। ऐसी स्थिति में कार्य सहज में सम्पन्न होता है और चढ़ाने वाले का परिश्रम भी कम होता है। शक्तिशाली गुरु तो शक्ति सञ्चार करते ही हैं। गुरु को बहुत शिष्यों के उद्धार के लिए चेष्टा करनी पड़ती है। गुरुदत्त कृपा रूप शक्ति की सहायता से प्रत्येक शिष्य को पुरुषार्थ के बल से अपने आप ही ऊपर चढ़ने की चेष्टा करना उचित है। जितना आवश्यक है उतना सहारा पाने पर फिर भावना किसकी? पर यह सत्य है कि गुरु इच्छा करने पर किसी क्षेत्र में किसी को अपने बल से भी ऊपर चढ़ा सकते हैं।

—और एक बात है। गुरु शक्ति प्रदान करते हैं यह सत्य है। किन्तु शिष्य को पहले उसे प्राप्त करना पड़ता है, तब उनका परिश्रम सार्थक होता है, क्योंकि देने पर ही तो फिर प्राप्ति हो नहीं जाती। शिष्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को यदि विश्वास न रहे तो वह गुरु-प्रदत्त शक्ति को धारण नहीं कर सकता। गुरु यदि शक्ति प्रदान करें, किन्तु शिष्य श्रद्धा और विश्वास के अभाववश धारणोन्मुख न हो तो पुनः पुनः आघात कर वह शक्ति गुरु में लौट जाती है—अथवा चारों ओर बिखर जाती है। शिष्य उसे पाता नहीं। इसलिए जीव के कल्याण के लिए गुरु को अपने प्रति विश्वास जमाने का उपाय करना चाहिये।

शिष्याभिमानी कोई कोई व्यक्ति गुरु की परीक्षा करने की चेष्टा करते हैं। किन्तु यह मूर्खता है। वास्तव में गुरु की परीक्षा की नहीं जा सकती। उनके निकट शिक्षार्थी हो कर जाना चाहिए, उनमें विद्या है या नहीं इसकी अज्ञ शिष्य किस प्रकार परीक्षा कर सकता है। यदि सचमुच गुरु प्रवञ्चक हों तो कपटाचार का अवलम्बन कर शिष्य को आकृष्ट करने के लिए वे वास्तव में जो नहीं है उस भाव से ही अपने को दिखाने की चेष्टा करेंगे, तब भावी शिष्य के लिए उनके वास्तविक स्वरूप का निरूपण करना सहज नहीं होगा। इसलिए गुरु में विद्या है या नहीं यह जानने की चेष्टा करना वृथा है। वे विद्वान् होने पर भी कृपणता किये बिना अकपट होकर मुझे विद्या प्रदान करेंगे या नहीं यह भी परीक्षा कर जानने का प्रयत्न करना व्यर्थ है। सरल विश्वास ही गुरु शिष्य के विशुद्ध संबध का मूल है।

आत्मज्ञानी और द्वैतयोगी में अन्तर है। आत्मज्ञानी प्रेमी होने के कारण कृपण नहीं होते—उनकी शक्ति का भण्डार सदा ही खुला रहता है, जो चाहता है वही पा जाता है। वितरण करना ही उनका स्वभाव है। किन्तु द्वैतयोगी अज्ञानी हैं, अतः उनमें प्रेम का अभाव होने से वे स्वभावतः कृपण हैं। वे साधारणतः उपार्जित शक्ति को खींच कर या संकुचित करके रखते हैं ताकि अपनी हानि न हो। द्वैतयोगी किसी का प्रणाम ग्रहण नहीं करते, क्योंकि अन्य का प्रणाम ग्रहण करते ही अपनी शक्ति क्षीण होती है। पैर के अंगूठे द्वारा अपनी शक्ति अन्य में अर्थात् प्रणाम करने वाले व्यक्ति में संक्रमण करती है। अद्वैतज्ञानी के मन में ये सब विचार उठते ही नहीं हैं!

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

—हंस बीज का एक स्थान से निरन्तर जप होता है। वह जन्म और मरण का बीज है। निश्वास में जन्म होता है, प्रश्वास में मृत्यु होती है। हंस बीज से मुक्ति नहीं होती, उद्धार नहीं होता। जो हंस बीज का प्रदान करता है वह और भी अधिक बन्धन में डालता है। पर साधारणत: जो श्वास प्रश्वास चलता है, बाबाजी के मत में वह हंस नहीं है, 'सोऽहं' सुनने के दोष से भ्रमवश हंस ऐसी प्रतीति होती है।

—निष्काम कर्म की बात केवल आत्म-शुद्धि के लिए कही जाती है। वास्तव में निष्काम कर्म होता नहीं। जहाँ कामना नहीं वहाँ कर्म रहता ही नहीं। मुक्ति चाहना या भगवान् को चाहना भी तो एक प्रकार की कामना है—इसीलिए उसके लिए भी कर्म है। कर्म के बिना किसी की भी प्राप्ति नहीं होती। द्वैत भूमि में द्वितीय-बोध है, इसलिए पाने की इच्छा होती है। इसीलिए पाने के लिए कर्म का आश्रय करना पड़ता है। अद्वैत में कामना नहीं है, इसलिए क्रिया भी नहीं है, आवश्यक भी नहीं है। वह आप्तकाम अवस्था है।

साधक अवस्था में कर्तव्य रहता है—स्नान, दान, जप, मन्त्र, योग आदि की आवश्यकता रहती है। सिद्धावस्था में कोई कर्तव्य नहीं रहता। लेकिन उस समय भी स्थूल देह-सम्बन्ध रहने तक ग्रात्मचैतन्य को प्रकाशमान रखना पड़ता है। जड़ जगत् सर्वदा उसे आच्छन्न करने की चेष्टा करता है। जब तक स्थूल देह बची रहती है तब तक स्थूल की क्रिया की ओर लक्ष्य रखना पड़ता है। इसीलिए स्थूल के स्तर में रहते समय स्मृति को ग्रविच्छिन्न रूप से उज्ज्वल रखना पड़ता है जिससे कि स्मृति लुप्त न हो। इस स्तर का त्याग कर निकलने पर किसी का भी नियन्त्रण नहीं रहता है।

देह में जैसे षट्चक्र हैं वैसे ही देह के बाहर भी षट्चक्र हैं देह में स्थित चक्र साकार हैं, देह के बाहर के चक्र निराकार हैं। साकार षट्चक्रों के भेदन का सबसे बड़ा दोष यह है कि इस प्रणाली में चलने पर कूटस्थ में न पहुँचने तक परब्रह्मदर्शन नहीं होता है। यदि परब्रह्म का दर्शन करना हो तो कूटस्थ में जाना पड़ता है, इस धारणा से उस प्रकार का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक संस्कार उत्पन्न होता है। उससे बार बार देह ग्रहण करना पड़ता है, कारण देह के बिना तो कूटस्थ को पाने का दूसरा उपाय नहीं है। उच्च स्तर में जन्म लेने पर भी जन्म अनिवार्य है। साकार का संस्कार कटे बिना परब्रह्म में पहुँचने पर भी संस्कार वश अधिकाधिक नीचे गिर कर साकार में ही पड़ना पड़ता है। साकार में पड़ने पर जन्ममृत्यु का बन्धन अवश्यम्भावी है। साकार होकर निराकार में जाना बड़ा कठिन है, क्योंकि निराकार में चिन्तन करने जाएं तो वहाँ साकार आ खड़ा होता है। साकार से निराकार का रास्ता बड़ा दुर्गम है। इसीलिए हम देहस्थ मार्ग का अवलम्बन कर चलना अच्छा नहीं समझते हैं। पहले ही कहा जा चुका है कि परब्रह्म प्राप्ति के पहले देह-त्याग होने पर देह संस्कार की प्रबलतावश फिर उसका कार्य करने के लिए बाध्य होकर देह ग्रहण करना पड़ता है। मूलाधारादि चक्र ही देहस्थ मार्ग हैं। आज्ञाचक्र भ्रूमध्य में है, यहाँ व्योम का अन्त और महाव्योम का आरंभ है। यह प्रणवस्थान है। महाव्योम के अन्त में नाद बिन्दु है। बिन्दु ही महाव्योम और परब्रह्म की सन्धि है। यहाँ अहंतत्त्व का स्थान है। यहाँ निरन्तर 'सोऽहम्' ध्वनि निकलती है। मन का अवसान यहीं पर होता है। बिन्दुभेद होने के बाद फिर मन नहीं रहता है। मूलाधार से यहाँ तक मन रहता है, इसीलिए ज्ञान भी रहता है। किन्तु बिन्दु का अतिक्रमण करने के बाद फिर कुछ जाना नहीं जाता। एक शक्तिमात्र ऊपर में संचरण करती है, ऐसी प्रतीति होती है। बिन्दु-भेद होने पर ही परब्रह्म-राज्य में प्रवेश हुआ यह कहना बनता है। किन्तु परब्रह्म की परिस्फुट अवस्था सहस्रार या कूटस्थ में पाई जाती है। कूटस्थ अर्थात् केश के करोड़वें भाग से भी बढ़ कर सूक्ष्म देह में यह स्थान शुद्ध परब्रह्म है।

किन्तु देह के बाहर का रास्ता इस तरह का नहीं है। साधन आदि क्रिया में बैठने के पहले विचार कर बहुत अच्छी तरह स्थिर कर लेना चाहिये कि मैं मानो मर गया हूँ, कुछ भी मेरे साथ जायगा नहीं। मैं किसी की भी बातें सुन नहीं पाऊँगा, सुनने पर भी उसका प्रतिकार नहीं कर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सकूँगा। किसी को भी साथ लेकर जा नहीं सकूँगा, रह कर भी किसी के निकट जा न सकूँगा—केवल मात्र ज्ञान और मन साथ जायँगे। जाने के पहले इन दो का संग्रह करना होगा, अन्य विषय भूल कर जाना चाहिये जिससे अन्य कोई संस्कार मन में न उठे, यह ध्यान में रखना होगा कि और कुछ भी मैं नहीं चाहता हूँ। इस प्रकार संस्कार रहित होकर किसी का भी देह-त्याग होने पर उसकी परब्रह्म में गति अवश्य होती है, क्योंकि परब्रह्म संस्कारहीन है।

हम लोगों की ऐसी एक क्रिया है जिसे करते ही देहस्थित प्राणवायु स्थिर होता है और साम्यभाव प्राप्त होता है। देह का अवलम्बन कर केवल इस क्रिया को करना आवश्यक है। बाद में देह के साथ सम्बन्ध रखने की आवश्यकता फिर नहीं रहती है। इसे करते ही देहस्थ प्राण की क्रिया शान्त होती है। अन्य संस्कारों के पूर्वनियमानुसार न उठने के कारण जीवात्मा देह त्याग करके ही परब्रह्म में प्रवेश-लाभ करते हैं और क्रमशः ऊर्ध्व में चलते रहते हैं। संस्कार-त्याग की जो बात कही गई है, वह अत्यन्त आवश्यक है। संस्कार का बीज रहने पर भी गति होती है। यदि वह न रहे तो परब्रह्म में प्रवेश के बाद फिर गति नहीं होती। क्योंकि परब्रह्म सर्वत्र समभाव से विद्यमान है।

जीवात्मा संस्कार-समष्टि है। संस्कारों का अपसारण भली भाँति होने पर साथ ही साथ जीवात्मा परब्रह्म में लीन होते हैं। अन्यथा शुद्ध संस्कारों के भी कुछ रहने पर तीव्र वेग से तूंबडी के तुल्य ऊर्ध्वगति होती है। अवश्य, परब्रह्म ही तब लक्ष्य रहता है! इसीलिए अन्य ओर दृष्टि नहीं रहती है, अन्य किसी का दर्शन नहीं होता, अन्य संस्कार जागते नहीं, गति भी विशेष नहीं होती। और फिर यदि संस्कार जागते हैं तो जैसे-जैसे संस्कार जागते हैं तदनुरूप गति में वक्रता आती है और नाना प्रकार के दर्शन आदि होते हैं। सरल गति से ऊपर चढ़ते चढ़ते क्रमशः छह आकाश स्तरों का भेद करना पड़ता है। यह जिस आकाश को हम देखते हैं, नीलाकाश है। जितना ऊपर चढ़ा जाता है उतना ही आकाश का रंग बदलता रहता है। यह रंग वस्तुतः सूक्ष्म मेघ का रंग

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है, आकाश का नहीं है। आकाश पार होते ही विभिन्न रंग एकदम सफेद में परिणत हो जाते हैं—वही महाव्योम है। उसके चारों ओर अनन्त—उज्ज्वल, सफेद, स्निग्ध, सुशीतल है। यह महाव्योम ही शङ्कर का शरीर है।

कैलास, विष्णुलोक, सबके ऊपर ब्रह्मलोक—ये सब व्योम में ही स्थित हैं। व्योम में और भी असंख्य लोक हैं--महाव्योम में भी हैं। व्योम में जो सब रूप देखे जाते हैं वे अति सुन्दर, मनोहर और हृदयस्पर्शी हैं। मालूम होता है कि ये इस पृथ्वी के अति श्रेष्ठ सौन्दर्य के निदर्शन हैं। किन्तु उन सब रूपों में मादकता है, इसीलिए उनसे भय है—रिपुओं के जागने की संभावना है। कितने ही नग्नरूप, कितने ही हावभाव विलास, कितनी ही देव-कन्याएँ स्वर्गीय गणिकाएँ (अप्सरायें) कितने प्रकार के अद्भुत दृश्य दिखाई देते हैं। इन सब दृश्यों में ध्यान देना उचित नहीं है, क्योंकि उन्हें देखते ही सरल गति वक्र हो जाती है, परब्रह्म में पहुँचने में विलम्ब होता है। कोई-कोई साधक मोहित होकर वहीं बँध कर रह जाते हैं, कोई-कोई नीचे गिर जाते हैं। अथवा कोई लक्ष्य-भ्रष्ट होकर नाना स्थानों में घूमते फिरते हैं—कितने समय तक यह घूमना-फिरना चलता है यह नहीं कहा जा सकता।

महाव्योम का रूप और भी अधिक मधुर, स्वच्छ और सुन्दर है। किन्तु उसका दर्शन करने पर चित्त में कामादि कलुष भाव जागते नहीं हैं, प्रत्युत अति पवित्र निर्मल भाव का उदय होता है। वहाँ की स्त्री मूर्तियाँ सभी मातृभाव की उद्दीपक हैं। वे रूप मानो आकाश के सदृश स्वच्छ हैं, पर उनमें भी आकार का भेद है, किन्तु वह भेद अति सूक्ष्म है। महाव्योम के बाद फिर आकार दिखाई नहीं देता।

पहले दिखाई देता है कि मैं चढ़ रहा हूँ। यहाँ 'मैं' पद से देह को हीं समझना चाहिये। यद्यपि प्राण का साम्य हुआ है और देह आसन पर पड़ी है, यह सत्य है, तथापि देखने में वह ठीक वही देह प्रतीत होती है। वह वास्तव पक्ष में स्थूल देह का संस्कार समष्टियुक्त आत्मा है। वह जितना ही ऊपर चढ़ता है, उतने ही संस्कार हटते रहते हैं। साथ ही

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साथ आकार क्रमशः सूक्ष्म होता है। व्योम के अन्त में जाने पर फिर वह रूप बिलकुल नहीं रहता। महाव्योम में प्रवेश करते ही आत्मदर्शन होता है और आत्मा की ऊर्ध्वगति दिखाई देती है। पहले देह उठती थी, अब मानो शुद्ध साकार आत्मा ही उठता हैं। आत्मा का रूप ठीक शङ्कर के सदृश है। त्रिनेत्र इत्यादि सभी लक्षण उसमें दिखाई देते हैं। यह अवश्य एक विशेष धारा के अनुसार कहा गया है, जिससे कि समझने में असुविधा न हो। सभी धाराओं में शुद्ध आकार को तत्तद्-भावापन्न जानना चाहिये। महाव्योम में ये सब आत्मिक रूप निरन्तर गिर रहे हैं और डूब रहे हैं। महाव्योम के साथ इनके रंग का कुछ अन्तर भलीभाँति जाना जा सकता है। चढ़ते-चढ़ते क्रम से ही आत्मा और महाव्योम के मध्य जो भेद है वह क्षीण होता रहता है। अर्धनारीश्वर तक अपने को अथवा आत्मा को और परमात्मा को या महाव्योम को पृथक् रूप से देखा जाता है। उसके बाद ही बिन्दु है—वहाँ केवल 'सोऽहम्' है। इसके ऊपर फिर वैचित्र्य नहीं है। परब्रह्म का जो रूप है वही तब महाव्योम का रूप और आत्मा का रूप है। इसीलिए तब परमात्मा और जीव में भेद दिखाई नहीं देता—दोनों ही एकाकार दिखते हैं। दूध में दूध मिलाने पर जैसे एकाकार होता है, ठीक वैसे ही।

परब्रह्म का वर्ण अव्यक्त है—उसका वाणी द्वारा प्रकाश नहीं किया जा सकता। उसमें सभी कुछ है पर किसी को भी पृथक् कर के कहना नहीं बनता है। वह अवर्णनीय है। प्रत्येक क्षण में ही मानो अनन्त नूतन नूतनों का स्फुरण हो रहा है, किन्तु कोई भी पकड़ में नहीं आता है।

'सोऽहम्' तक मन्त्र जाते हैं, शब्द जाता है, उतने ही दूर तक आकाश है। उसके बाद परब्रह्म है, वहाँ आकाश भी नहीं है, शब्द भी नहीं है।

ईश्वर में ऐश्वर्य है। छह रिपु ही छह ऐश्वर्य हैं। इन्हें पृथक् कर कोई कर्म हो नहीं सकता है। ईश्वर इनके ऊपर है; इसीलिए वे ईश्वर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हैं। व्योम तक अष्ट सिद्धियाँ हैं—ये ही अष्ट भैरव या अष्ट सखी अथवा अष्ट नायिका हैं।

महाव्योम में प्रवेश करने पर चार स्तरों का पता प्राप्त होता है—प्रथम स्तर में महेश, द्वितीय स्तर में महेश्वर, तृतीय स्तर में महेश्वर-नाथ और चतुर्थ स्तर में शङ्कर हैं। उसके अनन्तर महाव्योम के अन्त में हैं शिव और परब्रह्म। यह कोई स्तर नहीं है। वहाँ शिव-शक्ति एकाकार हैं। शङ्कर में शिव-शक्ति का कुछ भेद है। शिव मानो बीज हैं, शंकर मानो उन्हीं के अंकुर हैं, इस प्रकार समझना चाहिये। व्योम तक भूतों का खेल है—जीव का राज्य है। महाव्योम स्वयं भूतनाथ है।

विशुद्ध चक्र से आज्ञा चक्र तक व्योम है—यह घोर अन्धकारमय है। आज्ञा के दोनों बगलों (अगल-बगल) में सूर्यलोक और चन्द्रलोक हैं। आज्ञा में ज्योति है। आज्ञा से सहस्रार के नीचे तक महाव्योम है। महाव्योम के अन्त की ओर ॐकार है। ॐकार की पोटली के नीचे ही साकार रूप—युगलरूप के दर्शन होते हैं। वह पोटली कूटस्थ है, उसका भेद करने पर ही परब्रह्म हैं। पोटली अत्यन्त सूक्ष्म है यदि उसे एक केश के करोड़वें भाग के तुल्य कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। पर साधना के समय वह अवश्य अपेक्षाकृत बृहत् दिखाई देती है। समस्त देह में वह कूटस्थ ही एकमात्र स्थान है जहाँ छिद्र है। परब्रह्म अथवा शुद्ध खुला आकाश वहीं दिखाई देता है। परब्रह्म सर्व-व्यापक है—देह में सभी जगह वह है यह भी सत्य है—किन्तु अन्यत्र कहीं पर भी वह दिखाई नहीं देता है। सभी जगह कुछ न कुछ उपादान है, वहीं उपाधि है। जीवमात्र में यह कूटस्थ है, केवल जड़ में कूटस्थ नहीं है। कूटस्थ है, इसीलिए ज्ञान है। यह जो साधारण वृत्तिज्ञान है यह भी कूटस्थ होने से है। अन्यथा कोई ज्ञान न रहता—केवल चैतन्य मात्र रहता। अन्धकारमय आकाश का भेद करते समय हृदय बहुत ही उद्विग्न रहता है। इसीलिए गुरु बड़ी शीघ्रता से उस स्थान को पार करा देते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महाव्योम और परब्रह्म के सन्धि-स्थान में जो अर्धनारीश्वर की मूर्ति अथवा पुरुष और प्रकृति के मिलन की मूर्ति दिखाई देती है उसको देख कर यह नहीं पहिचाना जाता है कि पुरुष है या प्रकृति—दोनों ही समानाकार हैं। उसके ऊपर शिवलिङ्ग है—वह सारा का सारा लिङ्गाकार है, उसके ऊपर निराकार अथवा अव्यक्त है। लिङ्ग का अर्थ है चिह्न अर्थात् अव्यक्त का चिह्न। कोई कोई कहते हैं कि लिङ्ग का अर्थ है लय स्थान। वस्तुतः किसी का भी लय नहीं होता। जो भी हो, एक हिसाब से लय भी कहा जा सकता है।

व्योम के अर्द्धभाग तक सूर्य-किरणें जाती है, उसके बाद फिर किरणें नहीं जाती हैं, केवल मात्र अन्धकारमय है।

साधना का तत्त्व यदि खोजना हो तो महाव्योम में जाना चाहिये। केवल स्थूल का इतिहास जानना हो तो व्योम में ही वह पाया जाता है। पूर्व जन्म में मैं क्या था, मैंने क्या किया था, मैं कहाँ था इत्यादि सब विषयों का जानकारी व्योम में पाई जाती है। क्योंकि ये सब स्थूल विषय हैं। स्मृतिमात्र ही साकार हैं—स्थूल, आकार हैं। जब स्मृति जागती है तब उसके बाद ही दृश्य भी जाग उठता है। स्मृति ही ज्ञान-चैतन्य है। मैं पूर्वजन्म में क्या था यह आकांक्षा लेकर आज्ञाचक्र में जाकर स्थिर होते ही पूर्वस्मृति जाग उठती है। लेकिन ऐसी एकाग्रता के साथ यह करना चाहिये जिससे कि उस समय अन्य आकांक्षा या विचार चित्त में उदित न हो। ठीक जिस समय अन्य विचार न आयेगा उसी समय पूर्वस्मृति जागेगी और उसके साथ आनुषङ्गिक दृश्य भी उद्भासित हो उठेगा। स्मृति जगाने के लिए किसी अवलम्बन की आवश्यकता नहीं है। जैसे मैंने दस वर्ष की अवस्था में क्या किया था इसका एकाग्रभाव से चिन्तन करने पर स्मरण होता है तथा साथ ही साथ वह सब दृश्य भी दिखाई देता है, वैसे ही पूर्व जन्म के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये।

यह देह और भोग जिस जन्म के कर्म का फल है, उस जन्म के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संस्कार इस देह में ही हैं। अन्यान्य जन्मों के संस्कार देह के समीप स्थित हैं अथवा दूरस्थ व्योम में हैं। यह दूरत्व संस्कारों के भोगोन्मुखतारूप विपाक की कमी-वेशी के कारण है। इस व्योम में सब जीवों के सभी स्थूल संस्कार हैं। शुद्ध महाव्योम के स्थूल संस्कारयुक्त होते ही वह व्योमरूप में परिणत होता है। स्थूल का इतिहास व्योम में ही पाया जाता है।

जो अन्तर के गंभीर भाव हैं उनका पता व्योम में नहीं पाया जाता है। यदि किसी को भी हृदय से प्यार किया जाय, किसी की भी अन्तस्तल से भक्ति की जाय, यदि भगवान् को यथार्थ आर्त्तभाव से पुकारा जाय तो वे सब भाव व्योम में संचित नहीं होते, व्योम का भेद कर महाव्योम में चले जाते हैं। वे सब भाव आत्मा से उठने के कारण अति गंभीर और सूक्ष्म हैं वे सब व्योम का उल्लंघन करके उठते हैं। जो लीन होते हैं वे सब अर्धनारीश्वर में पहुंचते हैं। किन्तु जिन सब का लय यहाँ भी नहीं होता वे सब महाव्योम में ही रहते हैं। अर्धनारीश्वर में जाने पर उनका पता इष्ट देवता बतला देते हैं अथवा दिखा देते हैं। और यदि महाव्योम में रहें तो महाव्योम से ही श्रवण होता है—उत्तर-दाता के रूप का दर्शन आवश्यक नहीं है।

इस रूप से हम लोगों के प्रत्येक निमेष का चिन्तन जिसको लक्ष्य कर प्रवर्तित होता है उसमें लीन होने के लिए निरन्तर उसकी ओर दौड़ रहा है।

आज्ञाचक्र तक मन की क्रिया के द्वारा जाया जाता है। उसके आगे फिर मन नहीं जाता। जिस चञ्चल मन के साथ हम परिचित हैं वह आज्ञाचक्र के ऊपर नहीं रहता। चञ्चल मन रूपान्तर प्राप्त करता है—वही आज्ञाचक्र के आगे उपलब्ध होता है। वह भी साकार है, निराकार नहीं है, यह स्मरण रखना चाहिये। कूटस्थ का भेद हुए बिना वास्तविक निराकार सत्ता में प्रवेश प्राप्त नहीं होता।

आत्मा और मन एक ही पदार्थ है। पर आत्मा स्थिर है, मन चञ्चल है दोनों में यही अन्तर है। जिस आत्मा में आत्मा का भाग अधिक और मन का भाग कम है उसे ईश्वर अथवा ऐश्वरिक आत्मा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कहते हैं। जिसमें आत्मा का भाग कम और मन का भाग अधिक है, उसे जीव अथवा जीवात्मा कहते हैं। बरफ़ और जल एक ही वस्तु है, मगर बरफ़ स्थिर है और जल चञ्चल। यदि जल का भाग कम हो तो जल चञ्चल होकर भी बरफ़ को हिला नहीं सकता। और यदि जल का भाग अधिक हो तो जल के हिलने पर बरफ़ भी हिलेगा। यह हिलना ही जीव का संसार-भ्रमण है। जब बरफ़ के संगसे जल बरफ़ हो जाय तब दोनों में फिर भेदाभास नहीं रहेगा। तब दोनों एकरस हैं। वही ब्रह्म है।

ब्रह्म को सच्चिदानन्द कहा जाता है, सही है, किन्तु हम वैसा नहीं कहते हैं। आनन्द यदि नित्य और सर्वव्यापी होता तो संसार में दुःख का अनुभव न रहता। वास्तव में वह सर्वव्यापी या सर्वकालीन नहीं है। किसी विशेष कारण से आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। वस्तुतः ब्रह्म आनन्द और निरानन्द का साम्य-स्वरूप है। उसमें त्याग-ग्रहण नहीं हैं, सत्-असत् भेद नहीं है अर्थात् भेद-बोध नहीं है। जब भेद-बोध रहता है तब क्रिया भी रहती है।

ब्रह्म के अवतरण को हम स्वीकार नहीं करते हैं। जो देश और काल से स्पृष्ट नहीं हैं, जो नित्य प्रकाशमान हैं, उनके पक्ष में अवतरण अथवा प्राकट्य व्यर्थ हैं। अवतारवाद सत्य है, किन्तु वह जीव का खेल है। ऐश्वरिक जीव जगत् के दुःख से विचलित हो कर करुणावश ऊर्ध्वलोक से अधो-लोक में उतर आते हैं और अभीष्ट कार्य को सिद्ध कर लौट जाते हैं।

कैलास, विष्णुलोक आदि जैसे देह में हैं, वैसे ही विराट्भाव में देह से बाहर भी हैं। यह बात सत्य है। अवश्य वह अनित्य है। एक हिसाब से यदि देखा जाय तो अनित्य सत्ता भी नित्य ही है। उन सब शुद्ध धामों में सब आत्माएँ वास करती हैं। बहुधा उन्हें इस पार्थिव लोक में अवतरण करना पड़ता है--कभी पापके कारण, कभी भक्तों की मनःकामना का पूरण करने के लिए। जब वे अवतरण करते हैं तब उल्कापात की भाँति गिर जाते हैं। पहले प्रतीत होता है कि मानो

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक ज्योति गिर पड़ी, तीव्र वेगवश देह के अङ्ग दिखाई नहीं पड़ते, सूक्ष्म ज्योति है ऐसा मालूम पड़ता है। तदनन्तर फिर दिखाई नहीं देती। ऐसा पतन मैंने बहुत बार देखा है।

एक बार मैंने कैलास में एक बिल्व वृक्ष के नीचे एक विशाल-काय पुरुष को तपस्या करते देखा। देवी उन्हें वर देने आई थीं। तापस को अपने में कामार्त देख कर उन्होंने शाप दिया। दोनों ही पतित हुए।

शुद्ध आत्मा अवतरण के समय किसी को अपने उद्धार का भार सौंप आते हैं। क्योंकि एक बार अवतरण करने पर उस लोक की स्मृति लुप्त हो जाती है, तब इस मायिक जगत् के व्यापार में बँध जाता है, लौट कर जाने में कष्ट प्रतीत होता है। उपर से अवतरण करते समय भी पहले ऐसा ही होता है। एक बार यहाँ मोहित होने पर पुनः पुनः भ्रमण करता रहता है। आते समय संकल्प करके आता है कि भक्त की मनोवाञ्छा पूर्ण करके ही लौट आऊँगा। किन्तु यहाँ आकर उस बात का स्मरण नहीं रख सकता है। मरण-काल में यदि लौटने के लिए इच्छा जागती है तो, अवश्य गुरु-कृपा से, लौटने में समर्थ होता है। अन्यथा मृत्युकाल में जो इच्छा होती है उसी की खोज में बाहर निकल पड़ता है। फलतः तदनुरूप देह-लाभ होता है। इस प्रकार बार-बार जन्म-मृत्यु का चक्कर चलता रहता है।

कैलास में मन्दिर नहीं हैं—सब गुफाएँ हैं, गुफा के ऊपर शिखर अथवा चूड़ा है। प्रत्येक गुफा में एक-एक देवी या शक्ति का स्थान है। प्रत्येक देवी के साथ ही एक-एक शङ्कर हैं। देवी या शक्तियों की संख्या वस्तुतः अनन्त है, शङ्कर भी अनन्तरूपों में उनके साथ विराजमान रहते हैं। सब की अवस्था या भाव एक प्रकार का नहीं है। कोई विपरीत रतातुर हैं तो कोई शङ्कर की अङ्कशायिनी है, कोई शङ्कर के पार्श्व में स्थित हैं तो कोई दूर स्थित हैं इत्यादि भेद हैं।

जब देवियां वर देने आती हैं तब उनका अपना स्थान खाली होता है। तब यदि वे जन्म ग्रहण करती हैं, तो निश्चय इच्छापूर्वक भोगवासना की तृप्ति के लिए अथवा जगत् के किसी कार्य को करने के लिए—तब

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक दीपक से दूसरे दीपक को जलाने के तुल्य पृथक् होकर प्रकाशित होती हैं। वे इस तरह विभिन्न स्थानों में एक ही समय जन्म ले सकती हैं। कभी कभी लेती भी हैं। फिर वे सब अवतारित रूप कार्य की समाप्ति के पश्चात् अन्त में उस मूल रूप में आकर विलीन हो जाते हैं अथवा एक हो जाते हैं। जो सब रूप नीचे गिरते है उन्हें अंश कहा जा सकता है, किन्तु इस प्रकार के कोटि-कोटि अंशों के निकलने पर भी मूल रूप की कुछ भी हानि नहीं होती है। मूल रूप पूर्ण है, निकले हुए रूप भी अंश होते हुए भी पूर्ण हैं, लेकिन मूलरूप का यातायात नहीं होता, अंश रूप का चलना फिरना होता है। मूल रूप अंश रूप में अवतरण के समय यह भावना रखता है कि कार्य समाप्त करते ही लौट आऊँगा, किन्तु बहुधा वैसा होता नहीं। नर लोक में ही कुछ दिन तक घूमता-फिरता है। बाद को गुरु-कृपा से पूर्व स्मृति जागने पर ही लौटने की इच्छा बलवती होती है। तब चला जाता है। पूर्व स्मृति के जागते ही यह स्थान विदेश प्रतीत होने लगता है। विस्मृति जब तक रहती है तब तक ऐसा नहीं होता।

कैलास अथवा नित्यधाम मात्र में ही सब शक्तियाँ या प्रकृतियाँ सती हैं। यहाँ जैसे स्त्रियाँ सती होकर भी अपने पति से पृथक् परमेश्वर कोई है ऐसा विश्वास करती हैं और उनकी उपासना करती हैं, वहाँ ऐसा नहीं होता है। वहाँ आधे क्षणके लिए भी, सहसा भ्रमवश भी वैसा नहीं होता है। प्रत्येक ही शङ्कर की सेवा और आराधना करती हैं। उनका और कोई काम ही नहीं है। सभी शङ्कर के साथ मिलने के लिए व्याकुल रहती हैं—शङ्कर ही उनके एकमात्र परमेश्वर हैं। और वास्तव में है भी यही बात। किन्तु परब्रह्म जो मुक्त व्योम है उसे वे नहीं जानती हैं। उन्हें यह ज्ञान नहीं कि जिस शङ्कर का वे भजन करती हैं वह अखण्ड व्योम है। शङ्कर इस बात को जानते हैं किन्तु देवियाँ नहीं जानती हैं। शङ्कर ही उनके सर्वस्व हैं।

ऊर्ध्वलोकवर्ती अर्धनारीश्वर अथवा युगल मूर्ति उनके लक्ष्य हैं। यही उनका सायुज्य है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वहाँ से परब्रह्म में जाना अत्यन्त कठिन है। मनुष्य-देह धारण करके तथा कर्म करके तब परब्रह्म प्राप्ति हो सकती है।

पहले हम मूल रूप से अंश रूप के निर्गम की बात कह चुके हैं। उसका एक रहस्य है। अंशरूप यदि आत्मज्ञान प्राप्त करे तो मूलरूप में स्थित होगा। अन्यथा कैलास में जाकर अलग गुफा प्राप्त करेगा और पृथक् शङ्कर को प्राप्त होगा।

कैलास अथवा किसी नित्य भगवद्धाम में असतियां नहीं हैं, विरह नहीं है, दुःख कष्ट नहीं है, जरा नहीं है, व्याधि नहीं है, मृत्यु नहीं है—शाश्वत यौवन, स्थिर किशोर, चिर प्रेम तथा नित्य लीला है।

एक विषय ध्यान देने योग्य है। मैंने कहा शंकर-शंकरी अर्थात् पुरुष-प्रकृति अथवा शिवशक्ति। बीज भेद से, उपासना भेद से वही नारायणलक्ष्मी, कृष्णराधिका, राम-सीता इत्यादि जानने चाहिये। क्योंकि रूप अनन्त हैं।

सहस्रार में शिव-शक्ति के दर्शन होते हैं, किन्तु बीजभेद से दर्शन में तारतम्य होता है। बीज के मूलाधार से उठकर सहस्रार तक पहुँचने पर ही रूप-दर्शन होता है। बीज अनन्त हैं, इसीलिए एक ही शिव-शक्ति अनन्त रूपों में दिखाई देते हैं। जैसे एक वैष्णव सहस्रार में लक्ष्मीनारायण का दर्शन करता है—वह यदि गणेश-बीज पा जाय और उसका जप करे तो लक्ष्मीनारायण रूप गणेश और उनकी शक्ति के रूप में परिणत होगा। बीज नित्य है तथा रूप अनित्य है, बीज से रूप का विकास होता है। रूप ठीक ज्योति नहीं है। जैसे चन्द्रमा की प्रभा है—अति शुभ्र, हल्की और स्वच्छ, पर उससे करोड़ों चन्द्रमाओं का विकास होता है। इसकी ज्योति नहीं है, छाया भी नहीं है—यह अपने में स्वयं संवृत है। साधारण ज्योति का दर्शन आज्ञाचक्र में होता है।

सालोक्यमुक्ति = कैलास में गमन और वहाँ स्थान-प्राप्ति है।
सामीप्य = नैकट्य या भगवत्संनिधि है।
अन्त में सायुज्य और निर्वाण = मूलरूप में अंश रूप का लय।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महाव्योम में अनेक देवकन्याएं अथवा देवता टहलते दिखाई पड़ते हैं। महाव्योम में स्थित सब आत्मा शुद्ध हैं—उनका पतन नहीं होता है, पर भक्तों के प्रति कृपा प्रदर्शन करने के लिए उन्हें बहुधा भूलोक में अवतीर्ण होना पड़ता है। भक्तों के संस्कार या वासनाएं उस स्वच्छ आधार में जाकर तदनुकूल इच्छा पैदा करती हैं।

कूटस्थ अर्द्धनारीश्वर अथवा गौरीशङ्कर की मूर्ति का दर्शन होता है, वह साकार होकर भी अति स्वच्छतावश एक प्रकार से निराकार ही कहा जा सकता है।

वास्तव में इधर निराकार कुछ भी नहीं है—सब कुछ ही साकार हैं। फिर भी भेद है। साकार के मध्य में ही निराकार है—ज्ञान-योग से उसका प्रत्यत्त होता है। बरफ़ को जैसे जलरूप में देखा जाता है वैसे ही साकार का भी निराकार के रूप में दर्शन किया जाता है। यही ज्ञान है। बरफ़ जैसे वस्तुत: जल ही है, कुण्डल जैसे सुवर्ण ही है। साकार भी वैसे वस्तुत: निराकार ही है। अज्ञानी यह देख नहीं पाता है।

ॐकार उठता है व्योम और महाव्योम के मध्य में—उसका नाद ऊपर की ओर महाव्योम में और नीचे की ओर व्योम में बिखरता है। परब्रह्म में नाद नहीं है। पर पहले-पहल उसका एक क्षीणतम आभास पाया जाता है। यही सोऽहं ध्वनि है। बाद में वह भी नहीं रहता। बिल्कुल शब्द-शून्य है। उसी प्रकार परब्रह्म में रूप नहीं है, यह सत्य है, किन्तु एक प्रकार का कुछ है उसका प्रत्यक्ष होता है। वही आत्मरूप है। बाद में वह भी नहीं रहता है। इस प्रकार समझना चाहिये।

काम, क्रोध आदि के केन्द्र देह के बाहर हैं। वे ही वास्तव में षट्चक्र हैं। देह में उनका बीज है। दोनों के समानान्तर या समसूत्र होने अथवा आमने-सामने होने पर अमोघ क्रिया होती है। नहीं तो केवल आपेक्षिक क्रिया होती है। काम आदि स्वरूपत: खराब वस्तु नहीं हैं, व्यवहार से खराब होते हैं। जैसे अग्नि या तलवार खराब

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वस्तु न होने पर भी उपयोग-कर्ता के दोष से खराब कार्य में प्रयुक्त होते हैं, काम आदि की भी वैसा ही जानना चाहिये। काम ही भगवत्प्राप्ति की इच्छा के रूप में प्रकट होता हैं, तब क्रोध होता है वितर्कदलन, संशयनिरास अथवा विरोधनाश के भाव का नामान्तर। लोभ तब होता है भगवत्स्वरूप में आसक्ति। मोह होता है उसमें आत्म-विस्मृति, जिसके कारण बाह्य ज्ञान का लोप होता है। मद आनन्द अथवा निर्मल नशे का आकार धारण करता है। मात्सर्य होता है आज्ञाचक्र में प्रज्ञा अथवा 'अहम्' की प्रतिष्ठा।

जिस समय 'अहम्' है उस समय 'त्वम्' भी है। यही इष्ट है। बाद में कूटस्थ में दोनों का मिलन होता है। कूटस्थ का भेद होने पर 'सोऽहम्' है, उसके बाद नित्यमुक्त गमन है।

महाव्योम का भेद कर परब्रह्म में प्रवेश करते ही 'सोऽहम्' ध्वनि सुनाई देती है। यही शब्द की चरम अवस्था है। नित्य ही वह नाद हो रहा है। श्रवण करते ही अपने में भी वही जाग उठता है। तदुपरान्त फिर वह शब्द भी सुनाई नहीं देता। वही यथार्थ परब्रह्म में स्थिति है।

वायु के मूलाधार में जाने पर निद्रा का उदय होता है, व्योम और महाव्योम के अन्तराल स्थल में जाने पर समाधि होती है, कूटस्थ में जाने पर सुषुप्ति होती है। हमलोग निद्रा को सुषुप्ति नहीं कहते हैं। जहाँ सुख और दुःख का बोध नहीं रहता उस द्वन्द्वातीत अवस्था को हम सुषुप्ति कहते हैं। महाव्योम आनन्दमय स्थान है, समाधि योग से वहाँ गति होती है अथवा वहाँ गति होने पर ही समाधि होती है। आनन्द के बिना चित्त का समाधान नहीं होता है।

आनन्द उत्पन्न वस्तु है। महाव्योम आनन्दमय है। महाव्योम के ऊपर फिर आनन्द नहीं है। अभाव की निवृत्ति होने पर आनन्द होता है। जहाँ अभाव सदा निवृत्त है वहाँ आनन्द का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, वहाँ केवल शान्ति विराजती है! आनन्द उग्र और क्लान्तिजनक (थकान का उत्पादक) है किन्तु शान्ति सुशीतल है। इसीलिए पर-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ब्रह्म में प्रवेश करने पर पहले आनन्द गंभीरतम भाव में ही अनुभूत होता है। यही ब्रह्मानन्द है। किन्तु अधिक भीतर प्रवेश करने पर वह नहीं रहता है। स्वाभाविक प्रशान्तिमात्र रहती है।

शिव-शक्ति का मिलन अथवा देवदेवी का मिलन—सब में ही रति है। उससे परमानन्द का विकास होता है। वह मिलन आत्मा के साथ आत्मा का, अर्थात् शुद्ध संस्कार-युक्त एक आत्मा के साथ शुद्ध संस्कार-युक्त अन्य आत्मा का है। इसीलिए वह निर्मल, पर अति गाढ़, गंभीर और पूर्ण है। पृथिवी की रति स्थूल देहमूलक है। इस प्रकार की रति वहाँ नहीं है—इस रति का भाव आने पर ही उसके भोग के लिए पृथिवी में उतरना पड़ता है। दो स्थूल देहोंके संघर्ष, योनि में प्रवेश और गर्भावास के बिना स्थूल देह धारण नहीं होता। स्थूल देह के बिना पृथिवी का सुख-दुःख भोग नहीं होता है, स्थूल देह ही भोगायतन है।

व्योमपर्यन्त स्थूल का संस्कार है। महाव्योम में जाने पर अथवा षट्चक्रों का भेद होने पर सूक्ष्म में प्रवेश होता है। तब फिर माध्याकर्षण नहीं रहता। भक्तों की इच्छा से नीचे उतरने पर एक दीपक से दूसरे दीपक की ज्वाला के तुल्य प्रकाश होता है—वास्तव में प्रच्युति अथवा पतन नहीं होता है।

गुरु, मन्त्र, देवता और आत्मा एक ही हैं। तब फिर साधारणतः गुरु देवताको दिखा कर देवता का भजन करने को क्यों कहते हैं? जब गुरु और देवता एक ही हैं तब अपना भजन करने को क्यों नहीं कहते?

शिष्य जितना ही गुरु का चिन्तन करता है उतना ही उसे उनके संचित तेज अथवा तपस्या का फल प्राप्त होता है और वह ऊपर उठता है। फलतः गुरु को नीचे उतरना पड़ता है। गुरु यदि महाव्योम में पहुँचे हों और शिष्य यदि उन्हें पुकारे या उनकी भावना करे तो तुरन्त गुरुको बाध्य होकर महाव्योम से नीचे उतर आना पड़ता है। इसीलिए मनुष्य देहधारी गुरुजन साधारणतः अपने रूप का चिन्तन नहीं करने देते। वस्तुस्थिति यह है कि गुरु के जीवित रहने पर शिष्य का उनकी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भावना करना उचित है। उससे वह गुरु की भक्ति प्राप्त कर सकता है। किन्तु गुरु के विदेह होने पर शिष्य के लिए गुरु की मूर्ति का चिन्तन करना उचित नहीं है। क्योंकि उससे गुरु का आकर्षण कर उनकी हानि की जाती है। अवश्य यह एक पक्ष की बात है। इसका दूसरा पक्ष भी है। गुरु के मर्त्यदेह में स्थित न रहने पर उनका साक्षात् शिव-मूर्ति के रूप में चिन्तन करना उचित है, पूर्व परिचित नर-मूर्तिसे चिन्तन उचित नहीं है। गुरु के देहावस्थान-काल में शिवमूर्ति में गुरु-चिन्तन करना उचित नहीं है। वह शिष्य की अकृतज्ञता का निदर्शन है। विशेषतः उस नर-रूप-धारी गुरुमूर्ति में भी जब परब्रह्म विराजमान हैं, तब उस नरमूर्ति का त्याग निरर्थक है। मृत व्यक्ति के लिए इसीलिए खेद नहीं करना चाहिये। यदि वह अपने कर्मबल से ऊर्ध्वगति को प्राप्त कर चुका हो तो उस खेद अथवा रोदन के कारण वह उतर पड़ेगा—उसकी ऊर्ध्व-गति अवरुद्ध हो जाएगी।

स्थिर दृष्टि अच्छी है। पर बाहर का कुछ दर्शन करके भीतर लक्ष्य करना चाहिये—अर्थात् बहिर्दृष्टि और अन्तर्लक्ष्य। दो चक्षुओं के दबाव से ज्ञानचक्षु खुल जाता है। बाहर में लक्ष्य करने पर भी हो सकता है—पर उसमें कुछ विलम्ब लगता है। ज्ञानचक्षु का पपोटा विपरीत ढंग से बना है—साधारण चक्षु का पपोटा जैसे ऊपर में लगा है, ज्ञान-चक्षुका पपोटा वैसा नहीं है, वह नीचे लगा है, खुलने पर ऊपरी भाग मुक्त होता है। तब वह कूटस्थ के साथ समसूत्र रूप में प्रकाशित होता है। क्योंकि दोनों समसूत्र में ही हैं।

एकाएक विश्वरूप दर्शन होता है—वह एक अपूर्व अद्भुत व्यापार है।

मेरे गुरुदेव ने मुझे ध्यान का एक अत्यन्त गुप्त कौशल सिखाकर बतला दिया था—"इच्छा करने पर इस कौशल से जिस की इच्छा हो उसे देख पाओगे और जान पाओगे। पर इस उपाय से किसी आदमी के मनोगत भाव आदि, यदि विशेष कारण न रहे तो, जानने की चेष्टा न करना। मान लो—कोई आदमी तुम्हारी परीक्षा करने आया और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसे प्रकट नहीं कर रहा है। ऐसी अवस्था में तुम उसके हृदय का अभिप्राय जानने की चेष्टा मत करो। क्योंकि वैसा करने से तुम संभवतः उसका फिर कभी विश्वास नहीं कर सकोगे। उसके पश्चात् उस व्यक्ति के चरित्र में वास्तविक परिवर्तन हो जाने पर भी संस्कार-वश तुम्हारे मन में पहले का भाव जागा ही रहेगा। वह अच्छा नहीं है। ऐसी जगह साधारण विचार से ही काम करना उचित है। उसमें सन्देह रहे—अपने में निश्चय भाव न रहे। यह अच्छा है।"

ब्रह्म मानो अनन्त प्रकाश है—शुद्ध और मुक्त। जहाँ पर जो कुछ है सभी वस्तुतः "पर ब्रह्म" है, किन्तु आवरण जब तक न हटे तब तक "परब्रह्म" कहना संभव नहीं। आकाश में जैसे मेघ का आवरण है, इस जगह भी उसी प्रकार का आवरण है। आवरणयुक्त आकाश को परब्रह्म न कह कर आवरणयुक्त आकाश ही कहना उचित है। जब तक 'आवरण' ऐसा बोध है तब तक क्रिया द्वारा उसी मुक्त आकाश में गति और स्थिति लेनी होगी। किन्तु बद्ध-मुक्त भेदबोध न रहने पर क्रिया की आवश्यकता कहाँ? तब मन नहीं है, कामना नहीं है, इसीलिए क्रिया भी नहीं है। इस भेदबोध के कारण मुमुक्षा जाग्रत् होती है, किन्तु वह भी कामना है। उसके कारण ही क्रिया की प्रवृत्ति होती है; वह अवश्य मन के द्वारा होती है। अन्त में कोई क्रिया नहीं रहती है। तब मन भी नहीं रहता है, कामना भी नहीं रहती है। तब शान्ति का उदय होता है। वही मुक्तावस्था है, किन्तु उस अवस्था में मुक्तबोध नहीं रहता। इसीलिए परब्रह्म से ब्रह्मबोध श्रेष्ठ है।

जगत् की सभी वस्तुएं चल रही हैं—निरन्तर हटती जा रही हैं। गति या प्रवाह ही जगत् की विशेषता है। सूक्ष्म ब्रह्माकाश के एक छोर पर अनादिकाल से यह लीला चल रही है। यह लीला अनन्त है। पर एक बात है। सूक्ष्म आकाश के जिस भाग में वर्तमान समय में इस ब्रह्माण्ड का खेल चल रहा है दीर्घ काल के बाद किसी न किसी दिन वह भाग सर्वथा शून्य या खाली हो जायगा। जैसे आकाश के एक भाग में मेघ हैं—यदि वायु के द्वारा मेघ संचालित होते हैं तो किसी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समय मेघ के हट जाने पर वह आकाश भाग मेघमुक्त होगा। यह मुक्त (खुला) आकाश ही परब्रह्म है। अतएव प्रलयकाल में ब्रह्माण्ड की शून्यता या मुक्ताकाशता हो जाती है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि जो एक प्रदेश या छोर से गया वह मुक्ताकाश के अन्य प्रदेश या छोर पर वर्तमान रहा। इस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में जानना चाहिये। प्रवाहरूप से यह नित्य है, अनित्य कुछ नहीं है। पर यह कूटस्थ नित्य नहीं है। मुक्ताकाश के जिस भाग में यह मेघ जाता है वहाँ जो सब मुक्त आत्मा रहते हैं, वे मेघ का आभास पाकर अन्यत्र खुले स्थान में हट जायेंगे। यह स्वभाव का खेल है। यदि कोई आत्मा मुक्त आकाश में रह कर भी वासनायुक्त रहे तो वह उस मेघ के आने पर हटेगा नहीं—वह उसके साथ चिपक कर रहेगा। शास्त्रीय भाषा में उसे व्युत्थान कहते हैं। जिसे एकमात्र परब्रह्म की ही चाह है, वह उससे चिपकता नहीं है।

पञ्चभूत पृथक् पृथक् हैं, यही हम लोगों का अनुभव है, किन्तु जितना ऊपर उठा जाता है उतनी ही उनकी एकाकारता प्रतीति में आती है। और पृथग्भाव कटता जाता है। अन्त में ऐसी अवस्था प्राप्त होती है जिसमें भेद बिलकुल ही नहीं रहता अथवा अनुभव में नहीं आता है। तब फिर उनका पञ्चभूत शब्द से वर्णन नहीं किया जा सकता। वह एक ही व्यापक सत्ता है। वही मूल सत्ता है—उसमें सभी हैं।

मुक्ति अथवा उद्धार आत्मा का नहीं होता—पञ्चभूत अथवा संस्कारपुञ्ज की ही मुक्ति होती है। आत्मा तो नित्यमुक्त है; संस्कार वस्तुतः पञ्चभूतों से पृथक् वस्तु नहीं है। पञ्चभूतों के परस्पर संयोग से उत्पन्न अवस्था-विशेष को ही संस्कार कहते हैं।

यह जो आकाश दिखाई देता है इसका वर्ण (रंग) विविध कारणों से उद्भूत होता है। कुछ मेघों के कारण, कुछ एक प्रकार के उपादान की क्रिया के कारण यह रंग उत्पन्न होता है। यह स्थूल आकाश है। इसके बाद जो व्योम दिखाई देता है, उसका वर्ण अन्य प्रकार का है। वह पञ्चभूतात्मक होनेपर भी पृथिवी-प्रधान है। हम लोग जिस पृथिवी पर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निवास कर रहे हैं यह भी पञ्चभूतात्मक और क्षिति-प्रधान है। पृथिवी और व्योम में पार्थक्य यह है कि पृथिवी उत्पन्न होने से विनश्वर है, व्योम वैसा नहीं है। इसके बाद अन्य प्रकार का व्योम दृष्टिगोचर होता है, वह अप्‌प्रधान पञ्चभूतात्मक है। इस प्रकार एक के बाद एक पाँच व्योम हैं। हर एक व्योम का भिन्न भिन्न प्रकार का वर्ण है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। क्योंकि वह स्वसंवेद्य है। इनके बाद ही महाव्योम या आज्ञाचक्र है। वह अत्यन्त शुभ्र, स्निग्ध और उज्ज्वल है। मालूम होता है कि करोड़ों चन्द्रमाओं की शीतलता उस स्थान पर घनीभूत हुई हो। यही निराकार षट्‌चक्र का परिचय है। इसके बाद ही परब्रह्म हैं। जब वह पञ्चभूत केवल संस्कारमय, गुण-प्रधान भाव से रहित होते हैं, तब वहीं महाव्योमरूपी आज्ञाचक्र है। वस्तुतः वे तब संस्कार की समष्टिमात्र हैं। जब परमाणु आदि पृथक्‌ हो जाते हैं तब वे परब्रह्म के साथ मानो एकाकार हो जाते हैं। महाव्योम तक पार्थक्य प्रतीत होता है। पञ्चभूत व्योम में जितने सूक्ष्म हैं, महाव्योम में उसकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म हैं। अत्यधिक सूक्ष्मता के कारण परब्रह्म से उनका पार्थक्यबोध नहीं रखा जाता है। यही साम्य का उदय है।

वास्तव में ये पञ्चभूत भी ब्रह्म के ही रूप हैं, इसलिए नित्य हैं। पृथग्‌भाव में ये सदा चञ्चल हैं परब्रह्म में ये पर ब्रह्म ही हैं, इसीलिए स्थिर और शान्त हैं। महाव्योम में ये सर्वदा चलते हैं। तीन गुण—सत्त्व, रजः और तम—सृष्टि, स्थिति और संहार ये तीन प्रकार के स्वभाव के नाममात्र हैं। पञ्चभूतों के संयोग और वियोग स्वभाव-वश घटित होते हैं। इसीलिए कहा जाता है कि ये त्रिगुणों के अतीत हैं।

जहाँ रूप है, वहाँ गुण है, जहाँ रूप अव्यक्त हैं, वहाँ गुण भी वैसा ही है। जहाँ रूप पाँच प्रकार का (पञ्चभूत) है, वहाँ गुण तीन प्रकार का है। किन्तु परब्रह्म का रूप अव्यक्त है, इसीलिए परब्रह्म अरूप है। उनके गुण भी अव्यक्त हैं, इसीलिए वे निर्गुण हैं। वहाँ तीन गुणों का भेद मालूम नहीं पड़ता तथा पञ्चभूतों का या पाँच रूपों का पार्थक्य भी प्रतीत नहीं होता है। सब एकाकार हैं। त्रिगुण और पञ्चभूत पर-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ब्रह्म में शान्त और अचञ्चल हैं। किन्तु पञ्चभूत परब्रह्म के साथ एकाकार होने पर भी एक नहीं है। यद्यपि ये परब्रह्म से अविभक्त हैं, तथापि कभी न कभी इनका पतन हो सकता है, मोह हो सकता है। आज जहाँ पञ्चभूत अथवा संसार है, कल उसके हट जाने के कारण वहाँ शून्य या परब्रह्म होगा, वैसे ही आज जहाँ परब्रह्म है, वहाँ कल पञ्चभूत आ सकते हैं। तब वहाँ परब्रह्म आवृत होगा—अन्यत्र वह खुला है। इस प्रकार परब्रह्म के एकांश से यह जगत् अथवा पञ्चभूत सदा ही हैं और रहेंगे, इसका आदि और अन्त नहीं है। इन पञ्चभूतों के भीतर भी परब्रह्म हैं, वहाँ पञ्चभूत एक प्रकार से परब्रह्म ही हैं। फिर भी उनके पतन का भय है। इसलिए जभी वहाँ आने की आशङ्का होती है तभी वह स्वभावतः हट जाते हैं---मुक्त और एकान्त स्थान में चले जाते हैं।

जाते हैं यह सही है, किन्तु नहीं भी तो जा सकते हैं। तभी पुनः माया के चक्र से परिवृत होने की आशङ्का होती है। पञ्चभूत परब्रह्म में जा कर ठीक परब्रह्म के साथ एकाकार होते हैं, किन्तु फिर भी वे जब संस्कार-युक्त होते हैं, जब उन्हें संसार से भयभीत हो भागकर खाली स्थान पर रहना पड़ता है, तब जानना होगा कि उनको भय है। जो नित्य ही परब्रह्म है, वह संस्कार-हीन है। इसीलिए वहाँ भय नहीं है। संसार के आने पर भी भय नहीं है, क्योंकि वह निर्लिप्त है। पञ्चभूत जब साधना के प्रभाव से निर्मल होकर परब्रह्मत्व-लाभ करते हैं, तब वह भी एक हिसाब से सचमुच परब्रह्म हैं। संस्कार शून्य होने पर तो कहना ही क्या है। संस्कार-शून्य हुए बिना परब्रह्म होकर भी वास्तव में वे परब्रह्म नहीं हैं, इसीलिए उनको पुनर्बन्धन की आशङ्का में रहना पड़ता है। इसलिए हम परब्रह्म अवस्था को श्रेष्ठ नहीं कहते हैं। ब्रह्मभाव ही श्रेष्ठ है, क्योंकि उसमें भय नहीं है, उसमें मुक्त और बद्धभेद की कल्पना नहीं है। परब्रह्म और पञ्चभूत एक ही वस्तु है। वही ब्रह्म है। यहाँ दूसरा न होने से भय नहीं है। यही अभय-स्थिति है।

जो लोग परब्रह्म में जाने का संकल्प कर चलना आरंभ करते हैं वे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परब्रह्म में जाकर ही स्थिर होते हैं, दम लेते हैं, शान्त होते हैं—निष्क्रिय होते हैं। उनके बाद चलना नहीं पड़ता। किन्तु वास्तव पक्ष में परब्रह्म के भी अतीत अवस्था है; उसकी परम्परा अनन्त है। परब्रह्म स्थिर, नित्य, शान्त है—जैसे उसका पतन नहीं होता है अर्थात् पञ्चभूत रूप में आविर्भाव और विच्छेद नहीं होता है, वैसे ही अन्तर्गति भी नहीं होती है। क्योंकि वह निष्क्रिय है। जो आत्मा परब्रह्म का भेद कर 'मैं चलता रहूँगा' ऐसा संस्कार मात्र लेकर परब्रह्म में प्रवेश करते हैं, वह परब्रह्म में जाकर बैठे नहीं रहते हैं। वे उस संस्कारवश परब्रह्म में केवल प्रवेश ही करते रहते हैं। सदा ही ऊर्ध्वगमन करते रहते हैं, कभी भी रुकते नहीं हैं। इसको अनन्त मिलन कहते हैं। परब्रह्म में यह गति आरंभ होने पर फिर उसको भय नहीं रहता है। जब से परब्रह्म राज्य में प्रवेश मात्र हुआ है, तब से स्थिति है।

बाहर में गुण का राज्य है, भूतों का राज्य है, स्थिति अवस्था में उसका धक्का प्रविष्ट आत्मा में लग भी सकता है। किन्तु उस चिर स्थिर प्रशान्त ब्रह्म-समुद्र में जब वह पूर्व संस्कार के बल से चलता ही रहा, तब गुण संस्कार के द्वारा फिर कभी भी उसके स्पष्ट होने की संभावना नहीं रही। परब्रह्म से भी जीव लौट सकते हैं, किन्तु उस अनन्त मिलन के पथ पर जाने पर फिर लौटते नहीं।

जो लोग ब्रह्म को निष्क्रिय कहते हैं उनको पञ्चभूत को पृथक् कहना ही होगा। वास्तविक बात यह है कि ब्रह्म निष्क्रिय और सक्रिय दोनों ही हैं। एक ही वस्तु का अवस्थाभेद से नामभेद होता है। जहाँ उपाधि है, वहीं गुण और क्रिया है। अन्यत्र ऐसी कल्पना नहीं है।

निराकार ब्रह्मदर्शन होने पर हम लोगों के नियम से उसे साकार में देखना होगा। यह देखना भी दो प्रकार का है—

(क) पहले साकार में ओत-प्रोत रूप से उसको व्याप्त करके, आच्छादित करके वे निराकार हैं ऐसा देखना। उस अवस्था में साकार के अन्तर्यामी रूप में निराकार दर्शन होता है।

(ख) दूसरे, जो निराकार है वही क्रमशः इस साकार रूप में परि-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

णत हुआ है। दोनों में कोई भेद नहीं है। एक ही वस्तु की केवल दो अवस्थाएँ हैं। तब निराकार से साकार में तथा साकार से निराकार में गमनागमन हो सकता है। अन्यथा दोनों में विनाशक व्यवधान रह जायगा।

एक ही वस्तु को अवस्था-विशेष में हम नाना रूपों में देखते हैं, इसलिए तब वह भूत है।

जो अनन्त के साथ मिलन का अभिसार है वह भी उसी वस्तु की केवल क्रमिक सूक्ष्मता-प्राप्ति मात्र है। भूत, ब्रह्म, जीव, ईश्वर—सभी कल्पनाएँ हैं।

परब्रह्म में यदि जाना हो तो सभी को अर्धनारीश्वर का भेद करना होगा। कोई कहीं से भी क्यों न चढ़े, उसे अर्धनारीश्वर के राज्य में ही चढ़ना होगा। यही महाव्योम है। चढ़ने पर फिर अपनी चेष्टा नहीं रहती। तब अर्धनारीश्वर अपनी ओर खींच लेते हैं।

पञ्चभूत परब्रह्म में जा नहीं सकते, और जा भी सकते हैं। जब समष्टि में होते हैं तब जा सकते है अन्यथा नहीं जा सकते। पञ्चभूतों के अंश एकत्र होकर यह स्थूल देह रचते हैं। मृत्यु के समय ये सब अपने-अपने स्थान में लौट जाते हैं और लीन होते हैं। मूल पञ्चभूतों के विविध संमिश्रण से जो संस्कार आदि गठित होते हैं, वे ही इकट्ठे होकर घूमा-फिरा करते हैं। स्थूल न रहने पर भी स्थूल का संस्कार रह जाने के कारण फिर स्थूल का आकर्षण होता है, और स्थूल देह गठित होती है। इन संस्कारों का अतिक्रमण करना ही प्रधान कर्तव्य है।

मैं जब किसी का भी रोग हटाता हूँ तब उस रोग को व्योम में बिखेर देता हूँ। किन्तु जो संस्कार अथवा कर्म उनको खींच कर एकत्र करते हैं उनके रहने पर फिर कभी न कभी वह रोग आएगा ही।

उस रोग को बिखेर कर इस जीवन में व्यापक कर दिया जाता है। ऐसी स्थिति में किञ्चिन्मात्र रोग का भोग रहेगा सही, किन्तु वह अनुभव में आएगा ही नहीं। जैसे ५० मन दूध में एक बूँद स्याही पड़ने पर वह दिखाई नहीं देती, परन्तु उसका अस्तित्व तो है ही। फिर इस

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रोग को बहुत दूर हटा दिया जाता है--वर्तमान जीवन के बाहर विखेर दिया जाता है। ऐसा होने पर इस जीवन में फिर उसका भोग नहीं होगा। किन्तु जमा रहेगा, कालान्तर में उसका भोग होगा। कभी न कभी भोग करना ही पड़ेगा, भोग का निवारण नहीं किया जा सकता। किन्तु यदि कोई महापुरुष अत्यन्त अधिक शक्तिसम्पन्न रहते हैं तो वे रोग को अत्यन्त दूर व्योम में ठेल दे सकते हैं। उस स्थल पर भोग नहीं भी हो सकता है, किन्तु उसमें भी सन्देह है।

वास्तव में ब्रह्मरन्ध्र में परब्रह्म नहीं है। देह पञ्चभूतमय है। एक हिसाब से सर्वत्र ही परब्रह्म हैं—वह बात दूसरी है। किन्तु अनावृतरूप से ब्रह्मरन्ध्र में परब्रह्म है, यह सत्य नहीं है। पञ्चभूत देह में सर्वत्र विद्यमान हैं—कहीं छिद्र या खाली नहीं है। यदि खाली या छिद्र रहता तो अनन्त जीवों में अनन्त छिद्र हैं, यह मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में व्योम को छिद्रमय कहना पड़ेगा।

असली बात यह है कि ब्रह्मबिन्दु जिस जगह है उस स्थान में वायु का प्रवेश होते ही स्थान के माहात्म्य से आत्मा में चैतन्य अथवा स्मृति जाग उठती है—नींद टूट जाती है। तब अपने को ब्रह्मज्ञान होता है, तभी ब्रह्मबोध होता है—व्यापक परब्रह्म का साक्षात्कार होता है।

जैसे घड़ा यहाँ नहीं है, किन्तु स्मरण होने पर यहाँ घड़े का दर्शन होता है, उसी प्रकार ब्रह्मरन्ध्र में परब्रह्म नहीं है, किन्तु वहाँ जाने पर ब्रह्मविषयक स्मृति जागती है—इसीसे परब्रह्म का दर्शन होता है, आत्मदर्शन होता है। घट द्वैतभाव से, ब्रह्म अद्वैतभाव से उपलब्ध होता है, यही भेद है।

वायु की क्रिया से तो सब कुछ होता है। चलना-फिरना, बात-चीत, सोचना-बिचारना, हँसना-रोना, उठना-गिरना; सभी कार्य वायु की क्रिया के कारण होते हैं। इससे लोगों को आश्चर्य नहीं होता, केवल देह के शून्य में उठने पर आश्चर्य होता है। वह कुछ नहीं है। वास्तविक साधना बहुत बड़ी असाधारण वस्तु है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुम्भक दो प्रकार का होता है—केवल और सहित। जिनके हृदय में कामादि-विकारों का अनुभव नहीं होता है, उनके लिए सहित-कुम्भक आवश्यक नहीं है। रेचक और पूरक का उद्देश्य है मल आदि को साफ़ करना। जैसे कमरे में दुर्गन्ध रहने पर हम लोगों का कर्त्तव्य होता है बाहर से वायु लाना और उस वायु को बाहर फेंकना। फलतः भीतर शुद्ध होता है।

अन्दर मल न रहने पर बाहर की वायु लाने और भीतर की वायु का त्याग करने की आवश्यकता नहीं होती। कुम्भक में वायु जहाँ की तहाँ रहती है, परस्पर मिश्रण की चेष्टा नहीं करती है। इसीलिए साम्य होता है। एक वायु यदि अन्य वायु के साथ मिलना चाहती है; तभी क्रिया या गति होती है। परस्पर पार्थक्य रहने पर क्रिया की निवृत्ति होती है। सभी यदि अपने-अपने स्थान पर स्थिर रहें तो फिर वायु में चञ्चलता होने का कारण नहीं रहता है।

असंख्य जीव जन्म लेने के लिए अथवा अन्य कारण से श्वास-प्रश्वास द्वारा हमारे अन्दर प्रवेश करते हैं और बाहर निकलते हैं। ये अन्दर प्रवेश करके अपनी सब वस्तुओं को यथास्थान सजा देते हैं। इसीलिए एकाएक काम अथवा भक्ति का उदय होता है। कोई-कोई आविष्ट होकर उस देह में निवास करते हैं - अपनी दृष्टि-शक्ति को चक्षु में स्थापित करते हैं इत्यादि। कोई-कोई जन्म लेने के लिए देह में व्याप्त होते हैं—वीर्य के साथ बाहर निकलते हैं। अथवा कोई अपने निवास के अयोग्य होने के कारण उस देह का त्याग कर अन्यत्र चले जाते हैं।

कुम्भक करने पर फिर ये सब जीव यातायात नहीं कर सकते; चित्त को 'सु' या 'कु' में परिणत नहीं कर सकते। फिर योगादि-क्रियावश जो श्वास की गति होती है, वह भी उन सब जीवों के लिए असह्य होती है।

(क) ब्रह्म--यह एक, अखण्ड और अनन्त है। यहाँ चैतन्य नहीं है, आनन्द नहीं है एवं शक्ति भी नहीं है। जब समस्त कार्य ब्रह्म में प्रविष्ट होकर ब्रह्माकार हो जाते हैं, कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता, एकमात्र

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शान्ति रहती है, तभी स्वभाव के नियमानुसार ब्रह्म से स्फुरण होता है। यह स्फुरण ही शक्ति या चैतन्य है। यह निराकार और अद्वैत अवस्था है।

(ख) चैतन्य अथवा शक्ति—यह चैतन्य का उद्गम है, इसी का नाम शक्ति का उन्मेष है, यह कणा के रूप में उद्गत होता है। जैसे व्यापक जलाशय से बाष्प का उद्गम होता है, यह भी वैसा ही है। प्रथम अवस्था में यह चैतन्य सूक्ष्म, यहाँ तक कि अत्यन्त सूक्ष्म रूप में स्फुरित होता है। पर सूक्ष्म होने पर भी उसे स्थूल कहना होगा। क्रमश: वह घनीभूत होता है। तब उसका आकार प्रकट होता है। वह आकार चिद्घन है। शक्तिकणा स्वभावत: ही घनीभूत होता है, क्योंकि उस शक्तिकणा में वेग और स्पन्दन है। जिस प्रेरणा से शक्ति का उच्छ्वास हुआ है, वह अविच्छिन्न रूप से चलती रहती है, इसलिए वेग रहता है। समुद्र के किनारे कितना ही स्थान जम कर बरफ़ होने पर जैसा होता है, यह बहुत अंशों में वैसा ही है। ब्रह्म का ही अत्यल्प अंश चैतन्यरूप को प्राप्त होता है। इसीलिए एक हिसाब से कहा जा सकता है कि चैतन्य ब्रह्म की ही दूसरी अवस्था है। इसे निर्विकार का विकार कहा जा सकता है, पर विकार की मात्रा अत्यन्त कम रहती है, निर्विकार सत्ता उसकी अपेक्षा कई गुना अधिक रहती है। अविकृत भाव को अव्यक्त कहते हैं। बरफ़ जैसे समुद्र में तैरती है, वैसे ही चैतन्य अव्यक्त में तैरता है—अव्यक्त ब्रह्म का कुछ अंश व्यक्त अथवा चैतन्य आकार है।

इस शक्ति या चैतन्य में भी वह मूल आवेग है। इसीलिए यह तब भी पूर्ववत् चलता रहता है। इससे व्यापक ब्रह्म के साथ चैतन्य या शक्ति का संघर्ष होता है। संघर्ष अवश्यम्भावी है। ब्रह्म शून्य नहीं है, और तो और शून्यगर्भ वस्तु भी नहीं है जिससे कि स्पर्श करने मात्र से छेद हो जायगा अथवा रुकावट न डालेगा। ब्रह्म अखण्ड वस्तु या Continuum है। इस संघर्ष से जो उत्पन्न होता है उसका नाम बुद्धि है।

(ग) बुद्धि—बुद्धि उत्पन्न होकर चैतन्य अथवा शक्ति में ही स्थित रहती है। वस्तुतः चैतन्य का ही एक अंश बुद्धिरूप में परिणत होकर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

द्वीपवत् व्यापक चैतन्य द्वारा वेष्टित होकर भी उससे पृथक् की तरह विद्यमान रहता है। शक्ति की दूसरी अवस्था ही बुद्धि है।

(घ) अहङ्कार—पूर्वोक्त प्रकार से बुद्धि अहङ्कार रूप में परिणत होती है।

(ङ) और एक बात है। ब्रह्म और चैतन्य के संघर्ष से बुद्धि उत्पन्न होती है। उस संघर्ष से चैतन्य से कणा विकीर्ण होते हैं। वे विशुद्ध हैं, किन्तु बुद्धि मिश्र है। तदवत् बुद्धि और चैतन्य के संघर्ष से जो उत्पन्न होता है, उसका नाम अहङ्कार है। वह भी मिश्र है। किन्तु बुद्धि का कणा, जो विकीर्ण होता है, वह शुद्ध है। उस शुद्ध कणा के द्वारा लोक-मण्डल आदि रचित होते हैं। पञ्चभूत पर्यन्त तत्त्वों की सृष्टि होती है। तदुपरान्त तत्त्वों की समष्टि से जीव होते हैं। प्राधान्य के अनुसार जीवों के भिन्न स्तर बनते हैं। जो जीव जिस स्तर के होते हैं, उनकी उसी स्तर के लोक में अवस्थिति होती है।

पूर्वोक्त शुद्ध कणा-शुद्ध ही रहते हैं, मिश्रित नहीं होते हैं। क्योंकि निम्न स्तर के कणा ऊपर नहीं जा सकते हैं, उसी तरह ऊर्ध्व स्तर के कणा निम्न स्तर में नहीं जा सकते हैं।

(च) जन-लोक में लिङ्गदेह गठित होती है। स्थूल देह और नीचे गठित होती है। तपोलोक में सृष्टि की सूचना होती है— वही तपः, तपस्या और ताप है। तपः से सृष्टि होती है। पुरुष देह को यदि स्त्री-देह में परिणत होना हो तो पहले क्लीबता की प्राप्ति होती है, उसके अनन्तर स्त्री देह में रूपान्तर होता है। स्त्री-देह के परिवर्तन के सम्बन्ध में भी ठीक यही नियम है। एकाएक रूपान्तर नहीं होता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रामठाकुर की कथा

वह आज बहुत पुरानी बात हो गई है। तब मैं बनारस में ६३ नं० मिश्रपोखरा के मकान में रहता था और प्रतिदिन सन्ध्या समय दैनिक कार्य की समाप्ति के अनन्तर गङ्गा की स्निग्ध, शीतल वायु सेवन करने करने के लिए तथा कुछ समय मित्रगोष्ठी में बैठकर अध्यात्मचर्चा करने के लिए नियमित रूप से गङ्गाघाट पर जाया करता था। साधारणतः प्रयाग घाट पर बैठता, कभी-कभी दशाश्वमेध अथवा दरभङ्गा घाटपर भी बैठता था।

एक दिन, जहाँ तक स्मरण होता है, १९२३ ई० की ९ वीं फरवरी होगी, हम लोग परस्पर सत्संग कर रहे थे, उसी समय हम लोगों के मित्र (मैमनसिंह सुषङ्ग निवासी) महिमचन्द्र सिंहजी ने साधु-महात्माओं की आलोचना के अनन्तर समाचार दिया कि आजकल काशी में रामठाकुर नाम के एक उत्कृष्ट साधु पधारे हैं*। उन्होंने कहा, साधु संभवतः कुछ दिन काशी में रहेंगे---इस समय चिन्तामणि गणेश के निकट एक सज्जन के मकान में ठहरे हैं। इसके अनन्तर वे साधु की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। उनके मुँह से साधु की प्रशंसा सुनकर हम लोगों में से अनेकों की इच्छा हुई कि उसी समय उनके दर्शन करने जायँ।

महिम बाबू को अगुवा बना कर और भी दो-तीन पुरुषों के साथ हम लोग साधु के दर्शन करने के लिए चिन्तामणि गणेश मुहल्ले में गये। वहाँ जाकर हम लोगों ने जो दृश्य देखा उससे हम सभी मुग्ध हो

---

*वास्तव में १९१८ ई० की १९ वीं फरवरी को सन्ध्या समय मैंने सर्वप्रथम मित्रवर श्रीविमल मुखोपाध्याय से इन महात्मा को बात सुनी थी। वे तब काशी में मानसरोवर मुहल्ले में कुछ दिनों के लिए ठहरे थे। किन्तु इतने दिनों तक उनके दर्शनों का सुयोग नहीं मिला था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उठे। हम लोगोंने देखा, एक अनुमानतः ६०।६५ वर्ष के वृद्ध महात्मा हैं, गले में तुलसी की माला है, शरीर पर एक हथकरघे की सफ़ेद चादर है, मुख पर विनयपूर्ण मधुर हास्य है, धीर स्थिर सौम्य भाव से आसन पर बैठे हैं। यद्यपि हम लोग अपरिचित थे फिर भी हम लोगों को देखते ही उहोंने नम्रतापूर्वक हमें प्रणाम कर सादर निकट बुलाया।

हम लोग यथास्थान बैठ कर उनके साथ वार्तालाप करने लगे। बहुत देर तक वार्तालाप करने के अनन्तर हमें जो ज्ञात हुआ उससे हमारी धारणा हुई कि ये वस्तुतः ही एक महापुरुष हैं। लिखना-पढ़ना कुछ विशेष जानते नहीं, साधारण ज्ञान मात्र है, अन्य भाषा तो जानते ही नहीं, संस्कृत भाषा भी नहीं जानते हैं; यहाँ तक कि मातृभाषा बंगला के संबन्ध में भी साधारण रूप से लिखने-पढ़ने के सिवाय अधिक ज्ञान उन्हें है। किन्तु आलोचना के सिलसिले में जो सब गंभीर ज्ञान की बातें उनके मुख से निकली थीं वे अनुपम थीं। सरलता, अमायिकता, माधुर्य और नम्रता उनके चरित्र का एक विशिष्ट लक्षण था। वे सब भूतों में सचमुच भगवद्दर्शन करते थे—इसीलिए किसी व्यक्तिके उनके निकट आते ही वे स्वयं श्रद्धापूर्वक उसे प्रणाम करते थे। आगन्तुक के प्रणाम का अवसर पाने के पूर्व ही ठाकुर महाशय उसे प्रणाम कर बैठते थे।

जिस दिन हम सर्वप्रथम ठाकुर के दर्शन करने गये थे उसके चौथे दिन श्रीशिवरात्रि महोत्सव का अनुष्ठान था। उस दिन हम लोगोंने सायंकाल तक विभिन्न साधु सज्जनों का दर्शन किया। उस दिन हम सभी व्रती थे, इसलिए बहुत देर तक निश्चिन्त भाव से ठाकुर महाशय के सत्संग सुख का लाभ कर सके थे। इस तरह जितने दिन वे काशी में रहे हम बीच-बीच में उनके निकट जाते थे एवं उनके साथ सत्प्रसङ्ग उठाकर आलोचना करते थे। वे प्रति वर्ष ही काशी में आते थे, कभी वर्ष में दो-तीन बार भी आते थे। एक स्थान में ही सदा रहते हों सो बात नहीं थी। भिन्न-भिन्न भक्तों के घरों में विभिन्न समयों में ठहरते थे। कभी-कभी धर्मशाला में भी ठहर जाते थे। मानसरोवर, हाड़ारबाग, चिन्ता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मणि गणेश, नारद घाट, खुदाई चौकी, पातालेश्वर आदि बहुत स्थानों में हमने उनके दर्शन किये हैं एवं स्व० महेशचन्द्र भट्टाचार्य की हरसुन्दरी धर्मशाला स्थापित होने पर कभी-कभी वे वहाँ आकर भी ठहरते थे।

उनके जीवन की धारा अत्यन्त अद्भुत थी। भोजन एक प्रकार से था ही नहीं, यदि ऐसा कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। पर शरीर इतना फुर्तीला था कि उनके साथ चलना कठिन होता था। कभी-कभी हम लोग सन्ध्या समय नौका से घूमने निकलते तो उन्हें साथ ले जाते थे। तब दीर्घकाल तक निश्चिन्त भाव से गङ्गाजी की मध्यधारा पर गंभीर तत्त्व की आलोचना होती थी।

उनका जीवन अलौकिक रहस्यमय था। वे स्वयं पूर्वजीवन की बहुत बातें प्रसंगतः कहते थे। उनके जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव इतना विचित्र था कि उस पर बहुधा साधारण लोगों का विश्वास होना कठिन था। उनके हिमालय में रहते समय एवं अन्यान्य स्थानोंमें भी जो सब अलौकिक घटनाएं घटी थीं उन सबके विषय में ठीक-ठीक विवरण देना संभव नहीं है। इन सब वृत्तान्तों को लोगों के सामने प्रकाशित करना उनकी इच्छा के विरुद्ध था; और तो और उनका जीवन-चरित लिख कर कोई जगत् में उनका प्रचार करें यह भी वे नहीं चाहते थे। भक्त लोगों में यदि कोई ऐसी इच्छा प्रकट करता तो वे स्वयं ही उसमें बाधा डालते थे।

उनके गुरुदेव की कथा, जिसे मैं उनके संसर्ग से क्रमशः जान सका था, अत्यन्त अलौकिक है। मैं उसका वर्णन करने की चेष्टा नहीं करूंगा। उनकी अपनो पूर्वजन्म की कहानी भी वैचित्र्यपूर्ण है। उसके सम्बन्ध में भी में कुछ कहने की इच्छा नहीं करता हूँ। बहुत दिन पहले कविवर स्व० नवीनचन्द्र सेन के "मेरा जीवन" नामक ग्रन्थ में रामठाकुर महाशयजी का कुछ वर्णन मैंने पढ़ा था। नवीन बाबू ने जिस समय की बात लिखी थी, उस समय ठाकुर महाशय की अवस्था बहुत अल्प थी। किन्तु तब भी वे अलौकिक शक्ति सम्पन्न, विनय के अवतार, महाज्ञान विशिष्ट एक महापुरुष के रूप में परिगणित होते थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जब पहले पहल ठाकुर महाशय के साथ मेरा परिचय हुआ उसके कुछ दिन बाद ही अन्य सूत्र से कलकत्ता विश्वविद्यालय के अध्यापक स्वर्गीय प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती के साथ परिचय हुआ। वे ठाकुर महाशय के अनन्य भक्त थे एवं मेरे निकट भी अन्तरङ्ग मित्र के नाते आया-जाया करते थे। उनके साथ ठाकुर के सम्बन्ध में बहुत बार बहुत विषयों में आलोचना हुई है। ठाकुर की जीवन कहानी एवं उपदेश आदि लिख कर रखने का मैंने बहुत बार उनसे अनुरोध किया था। किन्तु उन्हें लिखने का सुयोग मिला था या नहीं यह मुझे ज्ञात नहीं है। 'भारत की साधना' ("भारतेर साधन") पत्रिका में को कुछ प्रकाशित हुआ था वह अत्यन्त सामान्य है एवं बाद में वह भी फिर प्रकाशित नहीं हुआ।

मुझे स्मरण है, एक बार हम सब मिलकर ठाकुर महाशय को साथ लेकर गङ्गातट पर आश्रमोपयोगी एक स्थान देखने गये थे। वह स्थान प्रह्लादघाट के निकट था एवं हम लोगों का पूर्वदृष्ट था। तब कैवल्य धाम की स्थापना नहीं हुई थी। किसी एक स्थान पर एक आश्रम की स्थापना हो उसके लिए ठाकुर के भक्तगण उत्कण्ठित थे। यह कहना अनावश्यक है कि काशी का वह स्थान आश्रमोपयोगी नहीं समझा गया।

सन् १९२३ से १६।१७ वर्ष तक प्रायः ही ठाकुर महाशय के दर्शन हमें प्राप्त होते थे। उस समय वार्तालाप के प्रसङ्ग में उनसे जिन सब तत्त्वों की व्याख्या मैं सुन पाता था उनमें से कुछ मैंने अपनी आलोचना के लिए लिख रखे थे। अपने उस लिखित नोटबुक से कई एक अंश छाँट कर मैं नीचे प्रकाशित कर रहा हूँ। आशा है, इससे उनकी चिन्तन-प्रणाली और दार्शनिक दृष्टिकोण समझा जा सकेगा।

'व्रज' शब्द का अर्थ व-रज है, रज-विहीन अर्थात् प्रकाशहीन या विरजा का पार समझना चाहिये। व्रजधाम ८४ कोस का है। उसके बाहर विरजा है। वृन्दावन व्रजधाम के अन्तर्गत है। व्रज में शान्ति नहीं है—शान्ति है व्रज के बाहर, व्रज में सदा आन्दोलन चल रहा है। यह आन्दोलन संकोच और प्रसार नहीं है—इसके मूल में है योगमाया

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का प्रभाव। व्रजधाम वस्तुतः माधुर्य धाम है। वहाँ जाने पर फिर लौट कर आना नहीं होता। वैकुण्ठ और कैलास ऐश्वर्य-स्थान हैं—ये दो स्थान व्रज के बाहर हैं। वैकुण्ठ और कैलास से लौट आने की संभावना रहती है। किन्तु व्रजभूमि में प्रवेश करने पर फिर लौटने का प्रश्न नहीं रहता। व्रज में जाने का एकमात्र उपाय शरणागति है—उस स्थान में कोई कर्ता नहीं है। ज्ञानियों के स्थान वैकुण्ठ और कैलास हैं, जिनके अधिष्ठाता विष्णु और रुद्र हैं। शान्तिधाम ब्रह्मलोक है, वह निर्वाण पद है। निर्वाण में स्वभाव नहीं है, किन्तु व्रज में स्वभाव का प्राधान्य है। वृन्दावन की अधिष्ठात्री वृन्दादेवी है। उसमें बाईं ओर निधुवन और दक्षिण ओर निकुञ्ज वन है। निधुवन की अधिष्ठात्री ललिता है और निकुञ्जवन की अधिष्ठात्री विशाखा है। 'विशाखा' माने शाखाशून्य एवं निकुञ्जवन कुञ्जहीन अर्थात् अंश या अवयव रहित।

शान्ति की भी चाह नहीं होनी चाहिये। शान्ति और अशान्ति दोनों ही भाव हैं, स्वभाव नहीं हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति, करना और न करना सभी कर्तृत्वमूलक हैं। प्रार्थना का त्याग करना ही होगा, इच्छा या कामना रहते व्रजमें गमन नहीं होता। व्रजवासियों को शान्ति का प्रयोजन नहीं है, क्योंकि वहाँ स्वभाव है। स्वभाव ही ईश्वर, आत्मा, भगवान् है।

स्थिर वायु को गोलक कहते हैं, चञ्चल वायु को माया कहते हैं। चञ्चल बारह अङ्गुल तक है, इसलिए द्वादश आदित्य ही जगत् है।

यह देह ही व्रजधाम है। देह ८४ अंगुल है, व्रजधाम ८४ कोस है, इसके बीच में १६ कोस मथुरा है, भीतर में पांच कोस वृन्दावन है। केन्द्र के मध्य में निकुञ्ज भवन है—निकुञ्ज माने कुञ्जरहित या अंशहीन। व्रज में शान्तभाव नहीं है, वहाँ केवल दास्य, सख्य, वात्सल्य और और माधुर्य का खेल है। एकमात्र श्रीराधा ही सब भावों की खान हैं। सखीगण आदि विभाव, अनुभाव प्रभृति आनुषंगिक हेतु हैं। सखीगणों के द्वारा ही योगमाया के बल से राधाकृष्ण का मिलन और विरह होता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। व्रज में कोई भी कर्ता नहीं है—राधा भी कर्त्री नहीं, कृष्ण भी कर्ता नहीं अथवा सखियाँ भी कर्त्री नहीं। योगमाया के प्रभाव से स्वभावतः ही सब कुछ चल रहा है। जैसे वायु के बहने पर ही वृक्ष के पत्ते या वस्त्र आदि हिलते हैं, वहाँ पर भी वैसे ही अपने आप ही सब कुछ स्वभाव के बल से होता रहता है। कर्तापन रहने पर अर्थात् अनुगत या शरणागत हुए बिना व्रज में प्रवेश नहीं किया जाता। शान्त-भाव भी व्रज के बाहर है। उस स्थान में चतुःसन अर्थात् सनक, सनन्दन आदि रहते हैं। सप्त ऋषियों का भी वह स्थान है। ज्ञान के बल से उस स्थान तक जाना संभव है। वहाँ अहंकार है, क्योंकि वहाँ का बोध है प्रयोजन का अभावबोध। अर्थात् 'हमें प्रयोजन नहीं' इस प्रकार का बोध वहां स्वाभाविक है।

जीव देह से नित्यलीला अथवा नित्यरूप का दर्शन नहीं होता। जो दर्शन होता है वह भूतों की छाया अथवा स्वप्न-दर्शन मात्र है। जब तक विक्षिप्त भाव रहता है तब तक जीवभाव है, यह जानना होगा। अनन्यचित्त होने पर जीवभाव नहीं रहता, वह शिवभाव में परिणत हो जाता है। उस अनन्यचेता की देह जीवदेह नहीं है। उस देह की मृत्यु नहीं होती, केवल तिरोभाव होता है। नित्यरूप चिन्मयरूप है। उसके दर्शन होने पर फिर उससे नेत्र हटाये नहीं जा सकते हैं। वज्रपात होने पर जैसे तडित्प्रवाह हम लोगों की तडित् (बिजली) को खींच लेता है, वैसे ही नित्यरूप आविर्भूत होकर हम लोगों का आकर्षण कर लेता है। इधर-उधर जाने की सामर्थ्य नहीं रहती; एकबारगी वह आत्मसात् कर लेता है। महप्रभु की देह चिन्मय रहीं, उसमें वस्तुतः अस्थि, रक्त, मांस आदि नहीं थे। यदि ये सब रहते तो वे "टोटा गोपीनाथ"* के अंग में छिप कैसे गये? नित्यानन्द प्रभु का तिरोधान भी इसी प्रकार जानना चाहिये। परन्तु हम लोग कैसे हैं? जैसे लालटेन के भीतर प्रकाश रहता है वैसे ही हैं—प्रकाश बुझ जाने पर खाली लालटेन पड़ा रहता है। वे सब आलोकमय हैं, आलोक बुझ जाने पर कुछ अवशिष्ट

* जगन्नाथपुरी का एक प्रसिद्ध मन्दिर।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नहीं रहता। उन लोगों की देह महाभूतमय है। जब ये लोग इहलोक में आते हैं तब महाभूतों को साथ लेकर आते हैं। महाभूत शब्दका तात्पर्य है स्वभाव अर्थात् निर्गुण, निर्विकार प्रकृति।

जब मन, बुद्धि और प्राण एक हो जाते हैं तब बुद्धि न रहने के कारण विचार नहीं रहता। इसीलिए भगवान् के प्राप्त होने पर "मुझे मिल गये" यह बोध नहीं रहता। चीनी तो चीनी का स्वाद नहीं जानती।

उस राज्य में कामलेश नहीं रहता, क्योंकि काम रहने पर उस राज्य में गमन होता ही नहीं है। जभी काम का उदय होता है तभी योगमाया के प्रभाव से पतन होता है, क्योंकि काम के उत्पन्न होने का बाद वहाँ कोई रह नहीं सकता, नीचे गिर पड़ता है। परन्तु सभी भाव वहाँ उठते हैं, इसमें सन्देह नहीं है। काम शब्द से समझना चाहिये आत्मतृप्ति की इच्छा। वहाँ कामबीज है अर्थात् इच्छा अवगुण्ठित रूप में विद्यमान है। इच्छा की दो अवस्थाएं होती हैं—१ संकोच और २ प्रसार। इच्छा के इस संकोच का नाम ही कामबीज है। "श्रीकृष्ण की जो इच्छा है वही हो" इस प्रकार की इच्छा को काम नहीं कहते। इसीलिए इसका नाम है कामबीज अथवा अप्राकृत काम। इसका प्रसार होने पर शाखा-प्रशाखा आदि के भेद से परिणाम होता है—इसी का नाम है संसार। वस्तुतः श्रीकृष्ण में भी इच्छा नहीं है—योगमाया के प्रभाव से उसका आविर्भाव होता है। साथ ही साथ तत्क्षण श्रीराधा में इच्छा का उदय होता है। सखीगण उसी को ग्रहण कर लेती हैं।

वहाँ चार प्रकार के भावों की बात पहले हम कह चुके हैं। प्रत्येक भाव को अनन्त जानना चाहिये अर्थात् दास्य अनन्त प्रकार के हैं, सख्य अनन्त प्रकार के हैं इत्यादि। अनुगत होने पर अणु की गति अर्थात् सूक्ष्मगति होती है। स्वयं अणु होने पर कर्तृत्वाभिमान नहीं रहता। दासभाव अपने आप ही जाग जाता है। उस समय चित्कणा (चैतन्य-कणा) अनन्त चैतन्य-समुद्र में प्रवेश करता है अर्थात् तब सभी चैतन्य-मय हो जाता है। परन्तु भाव अर्थात् जिसका जो भाव है वह रह जाता है। वह उस समय स्वभाव में परिणत हो जाता है। उस समय सब प्रकार का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अभाव मिट जाता है। क्योंकि पूर्ण के भीतर सभी पूर्ण है—प्रत्येक भाव ही जहाँ स्वभाव रूपी है वहाँ प्रत्येक भाव ही पूर्ण है। इसीलिए वहाँ काम नहीं जागता है। अपूर्ण भाव में स्वभाव-स्थिति नहीं होती है। इसीलिए संसारी जीवों की इतनी दौड़धूप है। निरंश वस्तु का अंश वस्तुतः कल्पित है। प्रत्येक अंश ही पूर्ण है, जैसे आकाश। गृहावच्छिन्न आकाश जैसे पूर्ण है, गृहस्थ-घटावच्छिन्न आकाश भी वैसे ही पूर्ण है।

कुण्डलिनी क्या है? यह कुण्डस्थित अथवा कुण्डाश्रित शक्ति का नाम है। कुण्ड का अर्थ है आधार। शक्ति जब आधार में रहती है अथवा आधार का अवलम्बन करके रहती है उस समय उसका नाम है कुण्डलिनी। यह शक्ति की सुप्तावस्था है। जब शक्ति शिव का या शून्य का अवलम्बन करेगी अर्थात् निराश्रय अथवा निरालम्ब होगी, तब समझना चाहिये कि कुण्डलिनी जाग गई। द्विदल के ऊपर शून्य अथवा निरालम्ब है। वहाँ किसी प्रकार का आश्रय है नहीं—"निराश्रयं मां जगदीश रक्ष।" द्विदल का अभिप्राय है दो पक्ष; वही केन्द्र है, वहाँ से दोनों ओर जाना संभव है अर्थात् ऊपर अव्यक्त की और नीचे दृश्य की ओर।

षट्चक्र यानी षड्यन्त्र अर्थात् चक्र ही यन्त्र है। इन्होंने (छह चक्रों ने) ही चक्रान्त या षड्यन्त्र द्वारा हम लोगों को बन्धन में डाल रखा है। यदि हम लोग अवलम्बन शून्य हो जाँय अर्थात् शून्य का आश्रय करें तो ये कुछ नहीं कर सकते। तभी समझना चाहिये कि षट्चक्र-भेद हुआ।

जिसे श्वास प्रश्वास कहा जाता है, वह वस्तुतः 'धीर गति' या सूक्ष्म गति है। उसको पकड़ कर रखना पड़ता है। उसी का नाम है सत्संग। उसी के प्रभाव से शून्य में स्थिति होती है। अणुभाव की प्राप्ति होती है। कर्तृत्वाभिमान हट जाता है। कर्तृत्वाभिमान के हट जाने पर चिन्ता छूट जाती है, पाप-पुण्य की समाप्ति हो जाती है और स्वभाव की प्राप्ति होती है।

गोलकका अर्थ है चक्र या पूर्ण। उसके केन्द्र को बिन्दु कहते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वृन्दावन पांचकोस है। मथुरा १६कोस है और व्रजमण्डल ८४ कोस है। यहीं संकोच-प्रसारमय योगमाया का राज्य है। वृदावन का केन्द्रस्थल है निकुञ्जवन, यहाँ भाग या खण्ड नहीं हैं। यह मोहमय है। यहाँ प्रकाश नहीं है, लीला नहीं है—इसी का नाम है निरोध। उन्मेष होने पर फिर लीला का आरंभ होता है। व्रज-मण्डल के बाहर परव्योम है अर्थात् स्थिर वायु है। यह साम्यभाव का स्थान है, या शान्त भक्तों की भूमि है। सनक, सनन्दन आदि इसी भूमि में स्थित रहते हैं। परन्तु व्रजमण्डल में शान्तभाव नहीं है, परन्तु और चार प्रकार के भाव हैं। दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य चतुरस्र के चार कोनों में ये स्थित हैं। ठीक मध्य में हैं भावातीत या निरोध। व्रज में सर्वदा ही योगमाया का खेल चल रहा है। परव्योम में हैं, ऊर्ध्व में कैलास और बैकुण्ठ अर्थात् शिव-शक्ति अथवा चन्द्र-सूर्य या मन-बुद्धि; निम्न में समसूत्र में हैं पुरुष और प्रकृति। यहीं से भेद का प्रारंभ हुआ अर्थात् अद्वैत भूमि टूट कर द्वैत का आरम्भ हुआ।❀

❀ १९२४ ई० को ११वीं अप्रैल को गङ्गा के वक्ष पर अपराह्न के समय नौका पर बैठकर इस प्रसंग की चर्चा छिड़ी थी। इस विषय को सरलता से समझाने के लिए ठाकुरजी ने कागज पर पेन्सिल से अपने हाथ से यह चित्र अङ्कित कर मुझे दिया था। व्रज-मण्डल=८४ कोस। मथुरा=१६ कोस। वृन्दावन = ५ कोस। बाहर गोलक की परिधि है। गोलक या चक्र का केन्द्र अर्थात् बिन्दु ही व्रज, मथुरा और वृन्दावन का भी केन्द्र है। इसी का नाम है निकुञ्जवन, व्रजमण्डल के बाहर है परव्योम।

गोलक

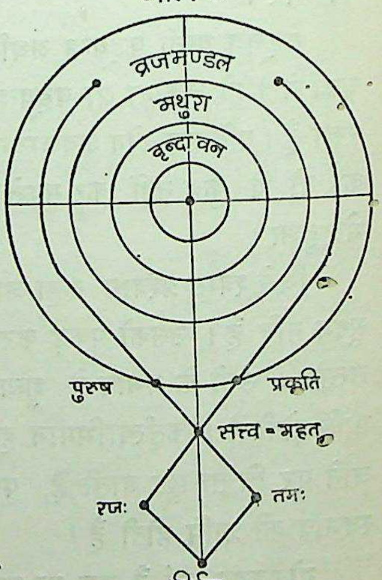

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

व्रजधाम में है योगमाया, उसके बाहर परव्योम में है माया, माया के आवरण के रूप में है महामाया अथवा अहङ्कार। महामाया के आवरण के रूप में है मोहमाया अर्थात् ममत्व बोध।

कर्तृत्व रहते व्रज में गमन संभव नहीं है। अधिक से अधिक शान्तभूमि तक जाना संभव है। कर्तृत्व का त्यागकर उन्मुख होने पर व्रज का पथ मिलता है। कर्तृत्व या पुरुषकार के द्वारा व्रज में जाना संभव नहीं है। विचार करना ही कर्तृत्व है। शून्य का आश्रय करने पर विचार नहीं रहता। ब्रज में सम्पूर्ण निर्भर-भाव है, जितना कुछ भय हो अथवा और जो कुछ भी हो, तो भी निर्भर-भाव है, अपनी चेष्टा नहीं।

समर्था का केवल केन्द्र की ओर लक्ष्य रहता है, समञ्जसा के भीतर जैसा है, बाहर भी वैसा ही है, इसीलिए वह परिधि के ऊपर चक्कर काटती है। किन्तु समर्था चक्कर नहीं काटती। वह पकड़े हुए ही है।

व्रज में किसी का भी कर्तृत्व नहीं है,—राधाकृष्ण का नहीं, सखियों का नहीं, योगमाया के प्रभाव से सभी में स्वभाव के अनुसार कार्य होता है। कोई भी विचारपूर्वक कुछ नहीं करता।

काल-चक्र के वामावर्त में गणेश, सूर्य, शिव, केशव और कौशिकी हैं। कालचक्र के दक्षिणावर्त में हैं ब्रह्मा, विष्णु रुद्र, ईश्वर और सदा-शिव। गोलक की परिधि ही कालचक्र है। व्रज में गमन को ही यथार्थ निर्वाण कहते हैं।

जीव नित्य-दास है, क्योंकि वह दास होकर ही उत्पन्न होता है। इस समय विषयों का दास है, विषयों के हट जाने पर नित्य का दास है।

व्रज में नित्य कैशोर है---केवल बीज और अङ्कुर तक। यथार्थ काम न होने से विकार नहीं है, इसलिए बीज और अङ्कुर के बाद अवस्था—डालपात कुछ भी नहीं होते।

योगमाया के राज्य में जाने पर फिर पतन नहीं होता। उस स्थान

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में मिलन में भी योग है, विच्छेद में भी योग है—योग रहता ही है। किन्तु माया में वह नहीं होता। यह भेदभूमि का व्यापार है।

भवसमुद्र के मन्थन से लक्ष्मी, अमृत आदि निकले थे। यही प्रथम स्तर है। यह योगमाया का मन्थन है। बाद में विष निकला था—यही विषय है। इस विष का पान करते हैं शिव। शिव का तात्पर्य है आकाश, अचल, अटल। यह माया का मन्थन है। इन सब जीवों में काम जागता है; इसलिए यहीं से पतन होता है।

जिसका यह कूल (लोक) है उसका वह कूल (लोक) भी है, दोनों ही कूल (लोक) हैं। जिसका कूल नहीं है, वह अकूल में हैं, अकूल में तरंग नहीं होती—कूल रहने पर तरङ्ग अवश्य होती हैं।

ब्रज में समर्था रति है, द्वारका में समञ्जसा रति है, और मथुरा में साधारणी रति है।

पुरुष के माने हैं प्रयत्न या पौरुष। प्रकृति का अर्थ है स्वभाव। प्रयत्न के स्वभाव में मिलने पर तब फिर प्रयत्न नहीं रहता। इसीलिए स्वभाव-प्राप्ति को ही युगल-मिलन कहते हैं। यही प्रकृति और पुरुष का मिलन है।

श्रीकृष्ण बीच में, राधा—बाईं ओर हैं। ये लीला शक्ति हैं। इन्हीं से अर्थात् वाम अङ्ग से ही लीला का प्रसार होता है। राम (बलराम)—दाहिनी ओर हैं; ये क्रिया या क्रीड़ा की शक्ति हैं। इनसे सृष्टि आदि का प्रसार होता है।

सखी और मञ्जरी में कुछ भेद है। सखी में इच्छा है—युगल-सेवा अर्थात् राधाकृष्ण के मिलन के सम्पादन और तृप्ति करने के विषय में सखी में इच्छा उत्पन्न होती है। युगल की इच्छा ही सखियों की इच्छा है। मन्जरियों में इच्छा नहीं होती। मञ्जरियाँ साथ ही साथ रहती हैं। रूपमन्जरी आदि बहुत सी मन्जरियां हैं। ये सभी अच्छेद्य हैं अर्थात् छोड़कर नहीं रह सकती हैं।

सहन किये जाना चाहिये अर्थात् प्रवृत्ति, काम, लोभ आदि का वेग सहन करते हुए रहना चाहिये। उसे प्रश्रय भी नहीं देना और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रोकना भी नहीं चाहिये। एक स्थिर वस्तु का अवलम्बन कर सहन किये जाना चाहिये। ऐसा होने पर वे अपने आप ही नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि उनकी सीमा है। सीमा होने से ही क्षय होना स्वाभाविक है। इसी को प्रारब्ध का भोग कहते हैं। यही "यदृच्छालाभ सन्तुष्ट द्वन्द्वातीत" अवस्था है।

अनन्त से नित्य नये-नये जीव निकल रहे हैं, और फिर उसी के भीतर प्रवेश कर रहे हैं। यह संकोच और प्रसार का व्यापार ठीक श्वास-प्रश्वास के तुल्य है। ये सब बीजभूत जीव नाना प्रकार के हैं। बाहर निकलते ही ये मायावायु के आघात से चारों ओर छितरा जाते हैं। जैसे आँधी से धूल, बालू, पेड़ के पत्ते आदि इधर-उधर संचारित होते हैं, यह भी एक प्रकार से वैसा ही है। इन बीजों के संकर्षण से अर्थात् समष्टि से स्थूलभाव की उत्पत्ति होती है। ये सब अकेले काम नहीं करते, दूसरों के साथ मिलकर कार्य करते हैं। ये अपने अनुरूप आवरण को ग्रहण करते हैं। स्वजातीय का प्राधान्य रहने पर उसी का विकास होता है। मायावायु के आघात से ये सब जीव चारों ओर विक्षिप्त होते हैं। ये सभी नित्य भावराशि के अन्तर्गत हैं। इनका ध्वंस नहीं होता। जब इनका ध्वंस होगा तब जगत् का कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहेगा। स्थूल देही जीव इसी की उपासना करते हैं और उसके अनुसार फल प्राप्त करते हैं। इसी का नाम काम्य कर्म है। कामना किये बिना, इच्छा न रहने पर अर्थात् इच्छा को शून्य में रखने पर संकोच-प्रसार का मण्डल नहीं रहता। मण्डल के बाहर स्थिर वायु में गति होती है। स्थिर वायु को ही चैतन्य कहते हैं। इस स्थिर वायु के ऊपर मण्डल-मण्डल में नाना प्रकार के चक्र हैं; उनके योग-वियोग से नाना प्रकार की लीलाएँ होती हैं।

स्थिर वायु ही अचला है अर्थात् समभाव या मित्रभाव है। अवयव ही देह है, परन्तु आत्मा निरवयव है। चारों ओर जो कुछ देखते हैं सब देह हैं। घट के भीतर आकाश है, ऐसा सोचने पर वह खण्ड आकाश है, सीमाबद्ध है। जब हम यह जानते हैं कि आकाश घट

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के भीतर-बाहर समभाव से है, तब आकाश असीम साम्यमय आत्मा है।

पुट=पात्र, आधार, अवलम्बन "इदम् इदम्"। वंशी बासुरी नहीं है, पर यह है प्रणव अथवा अनाहत नाद। उसमें मन प्रविष्ट होने पर फिर नहीं लौटता, क्योंकि उसमें छेद नहीं है। लीलाचक्र में उसका स्फुरण होता है।

ताल, मान, लय, रस और मन—गान के समय इन पाँचों का ऐक्य होना चाहिए। अर्थात् मन ताल, मान आदि में मग्न होकर एक हो जाना चाहिये। प्रतिष्ठा आदि की ओर मन को जाना नहीं चाहिये। संगीत नित्य अर्थात् सर्वदा हो रहा है। कीर्तन भी सदा हो रहा है। मैंने इन सब पदावलियों का बहुत अंश संग्रह कर रखा है।* जिन सब पदावलियों का अत्यन्त द्रुत भाव से सुर के साथ कीर्तन होता है उनको पकड़ा नहीं जा सकता। एक गान दो बार नहीं होता और दो जनों के निकट भी नहीं होता। मेरे द्वारा संगृहीत कतिपय पद मेरे गुरुदेव ले गये हैं। वे ठीक उसी तरह से गान करते हैं जैसे कि मैंने मूल में सुना था। मन को स्थिर करने पर ही यह गान सुनाई देता है। मन के स्थिर

*इन सब पदावलियों का एक स्वहस्तलिखित संग्रह ठाकुर महाशय ने १४ अक्टूबर १९२३ ई० को मुझे दिया था। इन पदावलियों की भाषा ठीक-ठीक समझ में नहीं आती—उनमें बंगला शब्द बहुत हैं; सुन्दर छन्द भी हैं—फिर भी सब मिला कर किसी प्रकार का भाव या तात्पर्य नहीं निकाला जा सकता। बहुत से शब्द ऐसे हैं जो जागतिक भाषा में अज्ञात हैं। छन्द काफ़ी सुन्दर हैं, पढ़ने में खूब मधुर मालूम पड़ते हैं। यह सचमुच 'कोमल कान्त पदावली' हैं, इसमें सन्देह नहीं है। ठाकुर महाशय कहते थे कि ये सब पदावलियाँ रूपयुक्त होकर प्रकाशित होती थीं। एक-एक ध्वनि का एक-एक रूप था—गोपी रूप अपूर्व सुषमामय। एक रूप आविर्भूत होते ही तिरोहित हो जाता था। साथ ही साथ क्रमिक भाव से ध्वनि का भी आविर्भाव और तिरोभाव होता था। रूप और ध्वनि की पुनरावृत्ति कभी नहीं होती थी। सुन कर लिपिबद्ध करना एक प्रकार से असम्भव था; श्रोता कागज़ के ऊपर लेखनी पकड़े रहते थे और शक्ति के प्रभाव से वह चालित होती थी। इस विषय में बहुत रहस्य है, किन्तु यहाँ उसका प्रकाश अप्रासङ्गिक है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होने पर ही बुद्धि स्थिर होती है। बुद्धि स्थिर होने का नाम है आसन-सिद्धि। सुषुम्णा के मुख को कूटस्थ कहते हैं। उस स्थान पर मन को रख सकने पर सब कुछ सुनाई देता है और दिखाई भी देता है। जिस बोली के विषय में मैं कह रहा हूँ यही यथार्थ में व्रज-बोली है। जयदेव, चण्डीदास और विद्यापति स्वयं व्रज-बोली सुनते थे और सुनकर उसे लिपिबद्ध करते थे। चण्डीदास बाँसुरी की प्रेरणा से लिखते थे। और पदावलीकारों में से कई ध्यानस्थ हो जाते थे। उस समय उनमें जिन पद आदि का स्फुरण होता था उन्हें उनके अन्तरङ्ग शिष्य लिख लेते थे।

मन चन्द्रमा है और बुद्धि सूर्य है।

लीला के अन्त में राधा (अनुराधा) सूर्य में गई थीं। राधा अर्थात् भानुसुता, वृषभानुनन्दिनी।

अष्ट प्रकृति=अष्ट सखी आदि। ये आठ प्रकृतियाँ कला नहीं हैं, स्वरूप ही हैं। ये संकोच के समय अव्यक्त हो जाती हैं और प्रसार के समय लीला करती हैं। ये आठ नक्षत्र हैं।

मूलाधार से श्वास उठता है, वासना और जीवसृष्टि का यही मूल है। मूलाधार के ऊपर संकर्षण हैं। लौटते समय जो-जो श्वास के आकर्षण में पड़ते हैं वे प्रकट होते हैं।

यह जो नीलाकाश है, यही लीला चक्र है। यहाँ लीला होती है। इसका भेद करने पर फिर कहीं भी रंग नहीं है, वह निरञ्जन है। वह किसी रंग को ग्रहण नहीं करता। सूर्य के उदय के समय आकाश में लाल रंग दिखाई देता है। इसका कारण है यहाँ स्थिर वायु नहीं है, चञ्चल वायु के कारण ऐसा होता है। नीलाकाश के ऊपर अग्निमण्डल है, उसके ऊपर सुदर्शन चक्र है, उसके ऊपर अमृत या आनन्द है।

गोप, गोपी और वृन्दावन - ये सब गुप्त अथवा अव्यक्त प्रकृति के नाम हैं। शहद का आस्वादन कर जैसे उसका स्वाद दूसरे को समझाया नहीं जा सकता, यह भी ठीक वैसा ही है। इसके व्यक्तभाव को समझाना संभव नहीं है।

देहमें सर्वत्र वायु का संचार होता है। संचार-मार्ग को नाड़ी कहते

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हैं। कितनी ही अवान्तर नाड़ियाँ एक-एक मुख्य नाड़ी की अनुगत हैं। ये सब फिर दूसरी एक अन्य प्रकार की नाड़ी की अनुगत हैं। अन्त में सभी सुषुम्णा की अनुगत हैं। नाड़ियों में क्रमशः सूक्ष्मतर और स्थिरतर वायु की प्राप्ति होती हैं। सुषुम्णा ही स्थिर वायु का स्थान है, चञ्चल वायु से स्थिर वायु में गति होती है। अर्थात् नीलाकाश से शुद्धाकाश में गति होती है। नीलाकाश योगमाया से सम्बद्ध है, किन्तु शुद्धाकाश स्वरूप अथवा स्वभाव से संबद्ध है।

ईश्वर शब्द से स्वभाव की प्रतीति होती है, इसी का कृष्ण के नाम से वर्णन किया जाता है। वहाँ अभाव नहीं है, प्रयोजन नहीं हैं। चैतन्य, शुद्धाकाश, स्थिर वायु, साम्य ये सब एक वस्तु के ही भिन्न-भिन्न नाम हैं।

प्रारब्ध भोग हटाया जा सकता है या नहीं ऐसा प्रश्न बहुत लोग करते हैं। इसका उत्तर है—हटाया जा सकता है, परन्तु हटाना नहीं चाहिये; वस्तुतः वह भोग हटता नहीं है। केवल भोग के द्वारा ही प्रारब्ध की निवृत्ति होती है। योगबल से अथवा अन्य किसी उपाय से उसे सरकाया जा सकता है यह सत्य है परन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि यह देह अनित्य है, इसलिए किसी न किसी समय इसका त्याग करना ही पड़ेगा। देहत्याग होते ही वह शून्य-स्थित भगायी हुई कर्मराशि फिर आकर्षण के बल से आत्मा को देह-ग्रहण करने के लिए बाध्य करेगी। यह सत्य है कि उस देह में फिर नूतन कर्म नहीं होगा, यह सत्य है जीव जब संसार में आते हैं तब स्वीकार पत्र देकर आते हैं, जो-जो भोग उनके प्राप्य हैं, उन्हें अंगीकार कर के आते हैं, इसीलिए उन्हें अपने भोग ग्रहण करने ही पड़ते हैं। जो भगवान् के शरणागत हैं, उनको भगवान् उसी देह में सब भोग करा लेते हैं; उसके बाद अपने निकट ले जाते हैं; फिर लौटने नहीं देते। उनका कोई भोग शेष नहीं रहता। धैर्य के साथ प्रारब्ध भोग कर लेना चाहिये, उसे रोकना नहीं चाहिये, रोकने पर भोग नहीं कटता एकमात्र अनुगत होने पर प्रारब्ध कर सकता है। उसे काटने का दूसरा उपाय नहीं है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'हरे कृष्ण' आदि सोलह नाम बत्तीस अक्षर और प्रणव एक ही वस्तु है। हरे, कृष्ण और राम—ये तीन अंश ही प्रणव के तीन अवयव 'अ', 'उ' और 'म्' हैं। राम के माने है रति अथवा प्रेम। कृष्ण के माने हैं एकाग्रता। अतएव इसका अर्थ है, सर्वदा स्थिर होकर प्रेम के साथ हरि का नाम लो।

ब्रह्म से कर्म उद्भूत होता है, कर्म फिर ब्रह्म में जाकर लीन होता हैं। ब्रह्म होता है अक्षर से। अक्षर का तात्पर्य है अव्यक्त, ब्रह्म उसीका प्राकट्य या प्रकाश है।

स्थिर वायु में स्तर नहीं है, चञ्चल वायु में स्तर है।

मन, बुद्धि और प्राण इन तीनों के एक होने पर ही प्रणव होता है। मन के स्थिर होने पर ही बुद्धि जागती है या चैतन्य का उदय होता है। तब प्राण का संचार होता है।

प्राप्ति का क्रम यह है:— पहले सूर्य-मण्डल है—यही देवमण्डल है, क्योंकि सूर्य में ही सब देवताओं का निवास है। इसके अनन्तर चन्द्र मण्डल है; चन्द्र-मण्डल के बाद अग्नि मण्डल है, उसके ऊपर सुदर्शन है, यह सत्य अथवा सत्त्व है। सबके ऊपर अमृत अथवा आनन्द है। महाभारत में कद्रू के आदेश से अपनी माता विनता का दासीभाव हटाने के लिए गरुड़ अमृत लाये थे, वह वास्तव में इसी क्रम से लाये थे। गरुड़ के अग्रज अरुण हैं। महाभारत में जो गज-कच्छप की कथा है वह श्वास-प्रश्वास है।

सभी वस्तुएँ गाढ़ी या गहरी होने पर नीली होती हैं। जल गाढा होने पर नील होता है, गाढ़ी अग्नि नीली होती है, मध्याह्नकाल में सूर्य भी वैसा ही होता है, गम्भीर आकाश भी नीला है। प्रदीप के बुझने की तैयारी होने पर एक नील ज्योति दिखायी देती है, वह गम्भीर ज्योति है। उसके चारों ओर एक सुनहली ज्योति का घेरा रहता है। उन सुनहली ज्योति को 'गौर' कहते हैं—उसके भीतर 'कृष्ण' है।

मस्तिष्क से जो ब्रह्मदण्ड नीचे की ओर उतरा है वही कल्प-वृक्ष है। उसका आश्रय कर जो कुछ कामना की जाती है सब सफल होती

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। उसका अवलम्बन किये बिना कोई भी चल नहीं सकता। मन, इन्द्रिय आदि उसमें आश्रित हैं। समस्त शरीर, समस्त स्नायु-मण्डली उसके ऊपर स्थापित है, यह ब्रह्मनाड़ी सारे जगत् की प्रतिष्ठा है। भीतर जो है बाहर भी वही है।

शून्य अथवा नीलाकाश का चिन्तन करते-करते नीलाकाश का विकास होता है। सामने जो आकाश हम देखते हैं उसमें नाना रंग लगे हैं—जो कुछ देखते हैं या सुनते हैं, सब रंगों का ही खेल है। उसके बाद नीलाकाश है, फिर चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र आदि हैं; वे ही चिन्तनीय हैं। चिन्तन करते-करते नीलाकाश समीप आएगा, तब उसमें रंग नहीं रहेगा। अपनी देह के मध्य में जो नाड़ी है, उसमें वह शून्य अथवा नील भरा पड़ा है। पहले एक रेखा के तुल्य वह दिखाई देगा, बाद में फिर रेखा रहेगी नहीं। सभी आकाश अथवा शून्य हो जायगा। तब देह-बोध नहीं रहेगा, शुद्ध नीला चक्र रहेगा। दीख पड़ेगा कि वह नीलाकाश मूर्तिमान् होकर विराजमान है, नक्षत्रादि सब उसकी सेवा कर रहे हैं, निरन्तर नृत्य, गीत आदि का अनुष्ठान हो रहा है। यही लीला की अवस्था है। अहं है किन्तु कर्तृत्व बोध नहीं है, अभिमान अथवा अहंकार नहीं है। सर्वत्र अनुगत भाव है। सभी कृष्ण-सेवा में तत्पर हैं। किसी को भी दूसरी कोई चिन्ता नहीं है। एकमात्र कृष्ण का अनुशीलन ही लक्ष्य है। बाद में वह भी नहीं रहता है। जब तक अहन्त्व है तब तक लीला है। निकुञ्ज में मैं-तुम कोई भाव ही नहीं है। कर्तृत्व रहने पर लीला-दर्शन नहीं होता है। एकान्त निकुञ्ज सेवा में मैं-तुम भाव नहीं रहता। मञ्जरी-भाव का तात्पर्य है तन्मयता। निकुञ्ज में पञ्चवाण का विकास होता है—उससे रसका आस्वादन होता है। (पञ्चवाण का तात्पर्य है पाँच इन्द्रियाँ और शब्दादि पाँच विषय) ब्रह्मनाड़ी के ठीक मध्यस्थल को निकुञ्ज कहते हैं।

लीलाचक्रमें रहते समय जो-जो कल्पना या इच्छा जागती हैं वैसा ही दर्शन होता है। क्योंकि उसमें कल्पवृक्ष है। बाद में या पहले वह नहीं होता। लीला भेद होने पर भी वह नहीं होता—लीला के पहले भी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वह नहीं होता। लीलाचक्र योगमाया का चक्र है, उसमें इच्छा, कल्पना आदि का उदय होता है। ये ही पौर्णमासी हैं।

राधा सर्वदा ही अनावृत चन्द्रातप में (खुली चाँदनी में) कृष्ण को देख पाती थीं। चन्द्र=प्रभा।

व्याधि अथवा रोग या बाधा ही विकार है, अर्थात् आवरण है। जहाँ बाधा नहीं, वही स्वास्थ्य, प्रकृति या स्वभाव है। विकार ही दुःख है, स्वभाव ही आनन्द है।

इस देह के समान बहुत-सी देहों का निर्माण कर नाना स्थानों में विचरण किया जा सकता है—वे सूक्ष्म नहीं हैं। इस स्थूल देह को चतुर्देह कहते हैं, क्योंकि वह चारों ओर बिखर जाता है, यह विभूति है। एक प्रदीप से जैसे बहुत से प्रदीप जलाये जा सकते हैं, ठीक वैसे ही एक देह से बहुत देहों का अविर्भाव हो सकता है। मन के द्वारा अर्थात् इच्छा शक्ति के द्वारा देह के अंश बाहर निकालने पड़ते हैं। ये सब अंश देह से बाहर निकल कर फिर देह में आकर लीन हो जाते हैं। अंश देखने में ठीक देह के अनुरूप होते हैं।

मृत्यु के पश्चात् जो देह निकलती है वह ऐसी नहीं है, वह सूक्ष्म देह कही जाती है। उस सूक्ष्म देह के साथ कारण देह विद्यमान रहती है, इसलिए फिर उसे स्थूल देह धारण करनी पड़ती है। 'कारण' का अर्थ है हेतु, प्रयोजन अर्थात् अभाव की प्रतीति। कारण देह यदि न रहे तो केवल सूक्ष्म देह आ नहीं सकती।

किन्तु ज्ञानदेह इस प्रकार की नहीं है, वह मुक्त देह है एवं देखने में बिजली के तुल्य उज्ज्वल है। वह संचरण करती है अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान में गमनागमन करती है एवं उसके अवयव भी हैं। किन्तु उसे समझना अत्यन्त कठिन है। वह एक प्रकार की ज्योतिः स्वरूप है।

भाव-देह उससे विलक्षण है। यह देह चन्द्रमा के आलोक (चाँदनी) के समान स्निग्ध है—इसी का दूसरा नाम भक्तिदेह है। इसकी शुद्ध अवस्थामें इसमें ज्ञान नहीं रहता। यही प्रेम में परिणत होती है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसका लक्ष्य केवल सेवा है—इसके द्वारा अपने अपने भाव के अनुसार भगवान् की सेवा होती है। यह स्मरण रखना चाहिये कि भाव अनित्य है, एक मात्र स्वभाव ही नित्य है। वह भाव के अतीत है।

ज्ञानदेह पाने पर भी पैर फिसल सकते हैं, यहाँ तक कि पतन भी हो सकता है। किन्तु ज्ञान नष्ट नहीं होता; ज्ञान का सर्वथा विलोप नहीं होता। भावदेह की प्राप्ति होने पर फिर कोई भय नहीं रहता। ज्ञानी होकर भाव के राज्य में जाना बहुत कठिन है, क्योंकि ज्ञानी परिपक्व हो गया है अर्थात् सिद्ध अवस्था प्राप्त कर चुका है। अपरिपक्व अवस्था से ही अनुगत होकर चलना चाहिये। इसका उदाहरण प्रह्लाद है।

पुरुष का अर्थ है पौरुष अथवा चेष्टा। उत्तम चेष्टा को पुरुषोत्तम कहते हैं।

काशी देह-त्याग का स्थान है—यहीं देह-त्याग होता है। उसके अनन्तर नन्दन वन अर्थात् लीलाभूमि में प्रवेश होता है। यही वृन्दावन-है, यही कुञ्ज प्रवेश है। इसी के मध्य-स्थान का नाम निकुञ्ज है।

उत्तर काशी, मध्यकाशी और दक्षिण काशी—सभी काशी हैं। पहली आदि है, अन्तिम काशी नवीन है। दक्षिण काशी अगस्त्य मुनि के दक्षिण में जाने के बाद रचित हुई। उसके रचयिता कुमार कार्तिकेय हैं।

सभी आत्माएँ सब की परिचित हैं। मलिनताके कारण कोई किसी को भी पहचान नहीं सकता। पहचानने पर फिर पराया नहीं रहता।

आश्रम की स्थापना के समय जिस शक्ति की स्थापना होती है, उसके प्रभाव से हिंसक पशु आश्रम में आकर हिंसा नहीं कर सकते हैं। मैंने यह अपनी आखों से देखा है।

सत्य=सत्त्व, यही सत्य युग है। त्रेता=त्राण। त्राण होने पर द्वापर होता है, तब केवल दो रहते हैं, भक्त और भगवान्। भक्त जब भगवान् से भिन्न और कुछ नहीं जानता, इसी अवस्था में कृष्ण-लीला

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का प्रकाश होता है। उसके अनन्तरकलि है। तब गौर-निताई प्रकट होते हैं।

अद्वैत, नित्यानन्द और गौराङ्ग-मूल में एक ही वस्तु हैं। अद्वैत हैं महाविष्णु, जो सब अवतारों के मूल हैं। नित्यानन्द संकर्षणस्वरूप हैं। बलराम आदि अथवा जीव आदि के ये उद्गम स्थान है। गौराङ्ग लीला के प्रस्रवण हैं।

काशी में ठीक तरह से बास करने पर काशी का यथार्थ व्यापार चिन्तन करते ही जाना जा सकता है।

विश्वनाथ काल-पुरुष हैं। ये सात ताराओं को समष्टि हैं। यहाँ हैं मङ्गला आदि चार गौरियाँ एवं विश्वनाथ, दण्डपाणि और वैकुण्ठेश्वर।

काशी त्रिशूल के ऊपर स्थित है। शूल का अर्थ है दुःख अथवा ताप, यह त्रिताप के ऊपर (परे) है।

भगवान् और स्वभाव में कोई अन्तर नहीं है। स्वभाव का अर्थ है प्रकृति। अग्नि और प्रभा में जैसे भेद नहीं है, यह भी वैसा ही है। भक्त तन्मय होने के कारण पृथक् नहीं है।

सब प्रकार की कामनाएँ समेट कर एक में फैंक सकने पर काम का अवगुण्ठन होता है। वही कामबीज है, वही भगवान् की आराधना का उपाय है। वृन्दावन में उसी का प्राधान्य है। भावदेह बीजरूप है। सम्पूर्ण ब्रज ही बीज अथवा अव्यक्त है। काण्ड नहीं, भेद भी नहीं है—इस बीज से अङ्कुर पैदा नहीं होता।

याचना नहीं करनी चाहिये, गुरु का दान अयाचित होता है।

जो दिखाई पड़ता है वह मिथ्या है, जो देखता है वह भी भ्रम-भूल देखता है।

गुरु जिस बीज को देते हैं उसी बीज के साथ बास करना चाहिये। उसके साथ घरेलू सम्बन्ध करना चाहिये, उसे प्यार करना चाहिये।

बीज के साथ वस्तुतः गुरु ही जन्म ग्रहण करते हैं। इसलिए छोड़ कर जाने का कोई उपाय नहीं है।

गुरु नाव को ठेल देते है। बाद में शिष्य को डाँड़ खींचना (चलाना)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चाहिये। अन्यथा केवल गुरु के ठेलने से चलने पर शिष्य को अत्यन्त कष्ट होता है, क्योंकि वह सम्हाल नहीं सकता है। स्वयं डाँड़ चलाना चाहिये, केवल वेग सम्हालने के लिए। गुरु ने तो सब कुछ दे रखा है, आवश्यकतानुसार शिष्य को सब कुछ प्राप्त होता है।

निरपेक्ष होकर रहना चाहिये, किसी पक्ष में नहीं रहना चाहिये। इसी का नाम प्राण का अथवा शून्य का सहवास है।

भोग आता है तो आए, उसे रोकना नहीं चाहिये। वह स्वयं ही हट जायगा। काल पूर्ण होने पर सिमट कर बीज में परिणत हो जायगा। रोकने पर संघर्ष पैदा होता है।

दीक्षा का अपना काल होता है। नारी के रजस्वला होने पर जैसे पतिसङ्ग होना आवश्यक है, वैसे ही शिष्य के भीतर की प्रकृति जबतक रजस्वला नहीं होती है, तब तक गुरु उसमें बीज वपन नहीं करते। इस बीज से सृष्टि होती है।

केवल श्वास-प्रश्वास में लक्ष्य रखने पर ही प्राणायाम कुम्भक आदि अपने आप हो जाते हैं।

कुण्ड का अर्थ है आधार। उसमें जो लीन रहते हैं वे कुण्डलीन हैं अर्थात् कुण्डलिनी। शक्ति जब तक साधार और सालम्बन रहती है, तब तक यह कुण्डलिनी है। जब वह निरालम्व (निराधार) और निराश्रय हो जाती है, तब समझना चाहिये कि कुण्डलिनी जाग गई। उस समय वह फिर कुण्डलिनी नहीं रहती। शक्ति के निराश्रय होने पर अहंभाव छूट जाता है।

बाहर से शक्ति-संचार करने पर कुछ विशेष लाभ नहीं होता। क्षणिक उल्लास मात्र होता है और कुछ नहीं। इसके बाद जब अधिक जोर से धक्का लगता है तब पहले जिस स्थान में रही उस स्थान से अधिक नीचे उतर जाती है। इससे साधकको बहुत कष्ट झेलना पड़ता है, परन्तु अपने मे जिसका विकास होता है, वह धीरे-धीरे होने पर अच्छा होता है।

सुख-दुःख कुछ हैं नहीं; बच्चे लोग जैसे आपस में खेलते हैं और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बीच-बीच में झगड़ा, मारपीट भी करते हैं, कभी हँसते हैं, कभी रोते हैं; कभी हारते हैं कभी जीतते हैं; परन्तु जब माँ खाने के लिए बुलाती हैं उस समय वे लोग सब खेल छोड़कर चले जाते हैं। माँ के निकट जाकर सब आनन्द में मग्न होते हैं। पूर्ववर्ती खेलने का सुख-दुःख सब भूल जाते हैं। यह (हमारा सुख-दुःख) भी इसी प्रकार का है।

पहले जो वस्तु आती है, जानना चाहिये वह भगवान् ही है, बाक़ी सब भूतों की हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक अद्भुत बालक की कहानी

लगभग ३० वर्ष व्यतीत हुए होंगे एक अद्भुत बालक के साथ मेरा परिचय हुआ था। उस बालक के जीवन की धारा तथा शक्ति का प्रकाश इतना अधिक विस्मयावह था कि विशेष अन्तरङ्ग परिचय हुए विना किसी को इस सम्बन्ध में पूर्ण विश्वास नहीं हो सकता था एवं इस समय भी सम्भवतः उसका कुछ विवरण सुनने पर सब विश्वास नहीं कर सकेंगे। किन्तु लोगों की धारणा में न आने पर भी सत्य वस्तु कभी उपेक्षित नहीं रहती। शीघ्र हो, चाहे विलम्ब से हो, सत्य अवश्य प्रकाश में आता ही है।

सन् १९३७ के अक्तूबर मास में मेरे एक पुराने मित्र ने बात-चीत के सिलसिले में मुझ से कहा था, "काशी में कुछ दिनों से एक अद्भुत बालकके विषय में स्थान-स्थान पर चर्चा हो रही है एवं कुछ पत्रिकाओं में भी उसके संबन्ध में कुछ विवरण छपा है। सुनने में आया है कि बालक स्थूल शरीर का त्याग कर सूक्ष्म शरीर का अवलम्बन करके देह के बाहर बहुत स्थानों में परिभ्रमण करता है एवं लोक-लोकान्तर में जाकर जहाँ जो कुछ अनुभव अर्जित करता है, देह में लौटने के बाद सबको वहाँ का वर्णन सुनाता है। इसका वास्तविक रहस्य क्या है? यह हम लोगों की समझ में नहीं आ रहा है।"

मित्र की यह बात सुन कर मेरे मन में उस बालक को देखने के लिए विशेष उत्कण्ठा हुई थी। मैंने सोचा था कि दूसरों के मुँह से वर्णन सुनकर परोक्ष रूपसे जानने की अपेक्षा स्वयं साक्षात् बालक को देख कर एवं उसके साथ वार्तालाप करके तत्त्व निर्णय करना अधिक उपयुक्त होगा। तदनुसार मैं उस महीने की १० वीं तारीख को सन्ध्या के बाद बालक को देखने के लिए एक मित्र के साथ घर से निकला। यह शारदीय नवरात्रि का समय था। शायद षष्ठी के दिन ही हम लोग गये थे। मेरे साथ जो मित्र गये थे उनका नाम था स्व० श्री सतीशचन्द्र दे, जिनके

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पिता (स्व० गिरीशचन्द्र दे) कभी बहुत दिनों तक काशीराज के प्रधानमन्त्री अथवा दीवान रह चुके थे। हम दोनों को जो उक्त बालक के निकट ले गये थे एवं जिन्हें उसके सम्बन्ध में विशेष वृत्तान्त ज्ञात था उनका नाम था श्रीनाथ चक्रवर्ती। ये सज्जन अवस्था में वृद्ध थे एवं बालक के गृह-शिक्षक थे। बालक स्थानीय बंगाली टोला हाई स्कूल में आठवीं कक्षा में पढ़ता था।

हम तीन आदमी काशी के जंगमवाड़ी मुहल्ले में बालक के घर पहुँचे। बालका नाम केदारनाथ था, जाति मालाकार और अवस्था १६ वर्ष की थी। हल लोगों के वहाँ पहुँचने के बाद ही बालक की माँ और बड़ी बहन बालक को साथ लेकर हमारे निकट आयीं और उन्होंने हमारा यथोचित स्वागत सत्कार कर उसके पूर्व इतिहास तथा वर्तमान परिस्थिति का वर्णन किया। बालक के पिता का कई वर्ष पूर्व स्वर्गवास हो चुका था। उस समय वृद्धा मां और बड़ी बहन के सिवा बालक का अभिभावक दूसरा कोई नहीं था। बहन का विवाह हो चुका था एवं उसका एक पुत्र भी था। वह पुत्र के साथ तब उस मकान में ही थी।

बालक का इतिहास और विवरण सुनकर एवं उसकी माँ और बड़ी बहन से बातें कर मुझे ज्ञात हुआ कि वे परिस्थिति को ठीक से समझ नहीं पा रही हैं। क्योंकि अनेक लोग नाना प्रकार के मन्तव्य प्रकट करके केदार की अवस्था का वर्णन करते थे। कोई उस अवस्था को भूत का आवेश कहता तो कोई तीव्र वायु का प्रकोप मानता एवं तदनुसार उसके प्रतीकार की व्यवस्था बतलाता। स्वर्गीय महामहोपाध्याय अन्नदाचरण तर्कचूड़ामणि जी तथा कालिकानन्द अवधूत जी केदार के माता-पिता के साथ पहले से ही परिचित थे। उन्होंने भी इस सम्बन्ध में अपनी सामर्थ्य के अनुसार केदार की सहायता करने की चेष्टा की। इसके अतिरिक्त ओझा को बुलाकर तथा तान्त्रिक प्रक्रिया के द्वारा भी प्रतीकार का प्रयत्न किया गया था। आयुर्वेद, होमिओपैथी, बायोकेमिक और एलोपैथी चिकित्सा-प्रणाली के अनुसार औषधियों का प्रयोग करके भी देखा गया था। किन्तु किसी उपाय से बालक की अवस्था में कोई

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिवर्तन नहीं हुआ। केदार की माता अपनी एकमात्र सन्तान को आरोग्य-कामना के लिए इतनी व्यग्र थी कि अपनी शक्ति के अनुसार उसने किसी प्रकार का प्रयत्न करने में कोई त्रुटि नहीं की थी।

यह इतिहास और सामयिक स्थिति का विवरण सुनकर मुझे प्रतीत हुआ कि इन सभी ने केदार की अवस्था दैहिक अथवा मानसिक विकृति का परिणाम है, ऐसी धारणा बना ली है। किन्तु वास्तव में यह विकृति है या नहीं, यह जानने के लिए मैंने उनके साथ विशेष बातचीत न करके साक्षात् केदार के साथ ही बातचीत करना उचित समझा। केदार ने सरल भाव से अपने पूर्वेतिहास का विस्तारपूर्वक मेरे निकट वर्णन किया। वह बोला, "मुझे कोई रोग नहीं हुआ है एवं कोई विकार भी मुझ में उत्पन्न नहीं हुआ है। किन्तु माँ यह समझ नहीं पा रही हैं। मेरा चलना-फिरना, बातचीत और साधारण व्यवहार अन्यान्य लोगों से थोड़ा भिन्न देखकर ये मुझे रोगी समझ रही हैं। किन्तु मैं रोगी नहीं हूँ। मैं जब देह से बाहर निकल जाता हूँ तब मुझे ज्ञान रहता है; बाहर जाकर विविध स्थानों को देखकर फिर जब मैं अपनी देह में लौट आता हूँ तब भी बोध रहता है एवं पहले की स्मृति विद्यमान रहती है। केवल यही नहीं, सूक्ष्म जगत् में विचरण करते समय एक क्रम का अनुसरण कर मैं विचरण करता हूँ एवं क्रम की आलोचना करने पर यह समझ में आ जाता है कि एक दिन की जानकारी के साथ दूसरे दिन की जानकारी का सम्बन्ध है। इसलिए मैं इसे विकार नहीं मानता हूँ।"

इसके बाद मैं उससे एक के बाद एक बहुत-से प्रश्न करने लगा एवं वह क्रमानुसार प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देने लगा। उन उत्तरों को सुनकर मैं मन-ही-मन यह समझ सका कि इसकी यह अवस्था कोई रोग नहीं है एवं रोग की सूचक भी नहीं। यह देह-निर्मुक्त आत्मा की सूक्ष्म जगत् की अनुभूति का विकासमात्र है।

केदार की वर्तमान परिस्थिति का पूर्व इतिहास इस प्रकार है—प्रायः एक मास या डेढ़ मास पहले अर्थात् १९३७ ई० के अगस्त या सितम्बर के किसी समय एक दिन प्रातःकाल केदार अपने एक मित्र के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साथ सामान खरीदने के लिए दशाश्वमेध गया। जो मित्र बालक उसके साथ गया था, वह उसी का समवयस्क एक ब्राह्मण बालक था। दशाश्वमेध बाजार के भीतर प्रवेश करने के पूर्व केदार ने देखा कि एक लाल रंग का आदमी उसकी ओर टकटकी लगाकर देख रहा है एवं मालूम पड़ रहा था कि वह उसे छूने की चेष्टा कर रहा है। केदार अपने मित्र के साथ गले में बाँह डालकर घर से बाजार तक गया था। उस लाल रंग के आदमी की दृष्टि को वह बहुत देर से देख रहा था। किन्तु दशाश्वमेध बाजार में प्रवेश करते समय उसके मित्र के चले जाने के बाद उस रक्तवर्ण पुरुष ने अकस्मात् उसकी देह को स्पर्श किया। उसके बाद वह पुरुष अदृश्य हो गया एवं केदार भी सब कुछ भूल गया तथा सामान खरीदने के बाद दशाश्वमेध से घर लौट आया इसके पश्चात् रात में उसे ज्वर आ गया एवं कई दिनों तक ज्वर से पीड़ित रहा। इस ज्वराक्रान्त अवस्था में एक दिन उसने अपने स्वर्गीय पिता को देखा। उसके पिता के साथ उसके पिता के स्व० गुरु रसिक बाबू भी थे। उन्होंने उससे, देह से निकलकर उनके साथ चलने का अनुरोध किया। किन्तु केदार पहले राजी नहीं हुआ, क्योंकि वह देह से बाहर निकलने की प्रक्रिया जानता नहीं था, एवं उस समय उसकी बाहर निकलने की इच्छा भी नहीं थी। किन्तु फिर भी समागत परलोकगत आत्माओं के अनुरोध और उन्हीं की शक्ति के प्रभाव से वह एक दिन अनजाने देह से बाहर निकल पड़ा। किस तरह वह देह से बाहर निकला, यह उस दिन उसकी समझ में नहीं आया। मन में इच्छा का उदय होने के साथ-ही-साथ उसने अपने को देह से पृथक् रूप से स्थित देखा। इसके बाद उनका अनुगमन कर सूक्ष्म शरीर से केदार ने बहुत अपूर्व स्थानों के दर्शन किये। वे सब विवरण यहाँ लिखे नहीं हैं।

केदार प्रतिदिन ही देह से बाहर निकल जाता एवं कुछ देर बाद फिर लौट आता। प्रतिदिन एक बार शरीर से बाहर निकल जाना उसका अवश्य-कर्तव्य हो गया था, इसमें कभी नागा नहीं होता था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किन्तु किसी-किसी दिन दैववश उसको तीन बार भी बाहर निकलना पड़ता था। इस बाहर निकलने और चारों ओर संचरण करने का इतिहास अत्यन्त आश्चर्यमय है। इधर उसकी माँ और बड़ी बहन ने उसे विकारग्रस्त समझकर नाना प्रकार के उपायों का अवलम्बन करना आरम्भ कर दिया। हम जब केदार के निकट गये तब हमने इसी अवस्था में उसको देखा था।

पहले दिन मैंने वास्तविकता जानने के लिए केदार से कई एक प्रश्न किये एवं उसके बाद प्रतिदिन ही उसके निकट जाकर नये-नये प्रश्न करता एवं वह भी अपने ज्ञान के अनुसार उन सब प्रश्नों का उत्तर देता था। उन सब उत्तरों पर विचार कर एवं उसकी अपूर्व ज्ञान की अवस्था और आन्तरिक विकास को समझकर मैं इस निर्णय पर पहुँचा कि उसकी अवस्था देह का विकार नहीं है एवं वायु के प्रकोप से मन का विकार भी नहीं है। इसकी जड़ में एक गंभीर सत्य निहित है, जिसका पता लगाना अत्यन्त आवश्यक है एवं पता लगाकर उसके विषय में सिद्धान्त करना भी आवश्यक है। मेरी और मेरे मित्रों की दैनिक उपस्थिति और मीमांसा के प्रभाव से केदार की माँ, बहन और हितैषी मित्रों को यह समझने में देर नहीं लगी कि केदार की यह अवस्था एक अलौकिक शक्ति के खेल का परिणाम है, मानसिक अथवा दैहिक विकृति का परिणाम नहीं है।

केदार जब पहले-पहल बाहर जाता तब उसे ले जाने के लिए दूत आता था एवं जहाँ ले जाया जाता था वहाँ का कार्य सम्पूर्ण हो जाने पर फिर वही दूत उसको साथ लाकर देह के निकट पहुँचा जाता था। उसकी देह जमीन पर पड़ी रहती थी—उस देह में वह अपने से ही प्रवेश करता था। ये सब दूत आतिवाहिक देवता थे। यमदूत, शिवदूत, विष्णुदूत आदि बहुत प्रकार के सूक्ष्म शरीरी आत्माएँ केदार के चालक का काम करती थी। बाद में जब उसकी शक्ति का विकास कुछ अधिक मात्रा में हुआ तब फिर इन सब आतिवाहिक देवताओं की सहायता की आवश्यकता नहीं होती थी—वह अपने से ही चला जा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सकता था एवं लौटकर आ भी सकता था। प्रथम अवस्था में बहुत दिनों तक केदार के शरीर मे बाहर निकलकर जाने पर कोई-न-कोई उसकी देह का स्पर्श कर बैठा रहता था—देह को स्पर्श किये बिना रखना नियमविरुद्ध था क्योंकि उस अवस्था में देह में नाना प्रकार के अशरीरी आत्माओं के प्रवेश की आशङ्का रहती है। इस स्थूल वायु-मण्डल में निम्न स्तर की बहुत आत्माएँ निरन्तर सञ्चरण करती हैं। यदि जीवित मनुष्य का स्पर्श देह की रक्षा न करे तो उन सब आत्माओं का उपद्रव एक प्रकार से अवश्य ही होता है। मैंने स्वयं भी दो-एक दिन इस प्रकार का एक व्यापार देखा था। उस दिन केदार के लौट आने में कुछ विलम्ब हो रहा था। इधर जिस आदमी ने उसकी देह का स्पर्श किया था, किसी कारण से वह कुछ क्षणों के लिए दूसरी जगह चला गया था। उस समय एक क्षुद्र आत्मा अर्थात् दुष्ट प्रकृति का विदेह जीव, बलपूर्वक उस देह में प्रवेश करने को उद्यत हुआ। भाग्यवश केदार उसी समय लौट आया; इसलिए विशेष कुछ हो नहीं सका।

केदार विभिन्न समयों में विभिन्न प्रणालियों से देह से वाहर निकलता था। साधारणतः वह नेत्र से बाहर निकलकर नूतन देह में चरण अथवा मस्तक से प्रवेश करता था*। इन्द्रपुरी में जाते समय इस

* केदार अक्सर ही बायें नेत्र से बाहर निकलता था। कभी-कभी दाहिने नेत्र से भी निकलता था। तीन बार मुँह से बाहर निकला था। किन्तु तब बाहर निकलने की प्रणाली वह जानता नहीं था। वह कहता था कि नेत्र का मार्ग शुद्ध है—मुँह का मार्ग उतना शुद्ध नहीं है। अन्यान्य मार्ग और भी अधिक अशुद्ध हैं। एक नेत्र से बाहर निकलकर दूसरे नेत्र से भी प्रविष्ट हुआ जा सकता है, उसमें कोई बाधा नहीं होती। वह यह भी कहता था कि देह में प्रविष्ट होने के पूर्व देहस्थचक्र की क्रिया शिथिल हो जाती थी। प्रविष्ट होने के साथ-ही-साथ नेत्र के निकटवर्ती चक्र के साथ युक्त होने के कारण चक्र वेग से चलता रहता था। इधर अन्यान्य चक्रों की गति भी पहले की अपेक्षा तेज हो जाती थी। अब तक वे सब चक्र भी धीरगति और स्तिमित प्राय हो चुके थे। एक अंगूठे के बराबर वस्तु सारे शरीर में बिखरी है, व्याप्त है, इसलिए सब चक्र चलते हैं। देह से बाहर निकलते समय उस तेजोमय पदार्थ को समेट कर किसी द्वार से बाहर निकलना होता है। तब दैहिक चक्र फिर निस्तेज हो जाते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नवीन देह का भी त्याग कर अन्य देह में प्रविष्ट होना पड़ता था—तब वह नेत्र द्वारा ही प्रविष्ट होता था। बहुत बार ऐसा होता था कि वह पहले मस्तक की ओर चढ़ जाता था, किन्तु जितने दिनों तक वहाँ का नेत्र बन्द था—उतने दिनों तक वहाँ के मार्ग से बाहर नहीं निकल निकल सकता था, इसलिए नीचे उतर कर दिव्य नेत्र से बाहर निकल जाता था। यह अवश्य दिव्य नेत्र खुलने के बाद की बात है।

केदार विविध स्थानों में, वहाँ की दिव्य शक्ति द्वारा आकृष्ट होकर जाता था। जब जहाँ की शिक्षा अथवा ज्ञान की आवश्यकता होती थी.तब वहीं जाना पड़ता था। वहाँ का कार्य सम्पन्न होने पर फिर वहाँ जाना नहीं पड़ता था, तब अन्य स्तर में जाना पड़ता था। इस प्रकार कई एक वर्षों में उसे बहुत स्तरों में भ्रमण करना पड़ा। इसका विस्तृत विवरण देना अनावश्यक है। उन सब स्तरों में कभी-कभी वह अपनी परिचित आत्माओं को देखता था। इन सब परिचित आत्ताओं में देहस्थित और परलोकगत दोनों प्रकार की आत्माएँ रहती थीं। काशी के प्रसिद्ध महात्मा नग्नकलेवर तपस्वी हरिहर बाबा तब भी जीवित थे। स्थूल दृष्टि में तब वे अस्सी घाट के निकट गङ्गाजी के ऊपर नाव में रहा करते थे। किन्तु केदार ने उन्हें ध्रुवलोक के निकट देखा था। केदार ने वहाँ से लौट कर कहा था "हरिहर बाबा अब अधिक दिनों तक इस जगत् में नहीं रहेंगे, क्योंकि ध्रुवलोक के निकट उनकी सत्ता अधिक परिमाण में स्थिति-लाभ कर चुकी है। वह उनकी मुक्त आत्मा की स्थितिभूमि है। वे इच्छामृत्यु हैं, इसलिए उस ऊर्ध्व स्थित आत्मा के इच्छानुसार ही उनकी देहाश्रित आत्मा आकृष्ट होकर देहत्याग कर ऊपर चली जायगी। इस महापुरुष के कर्म कट चुके हैं।"

केदार जब इन्द्रपुरी में जाता तब साधारणतः वहाँ के अधिष्ठाता नारायण के आह्वान पर ही जाता था। इस आह्वान को वह स्पष्टरूप से समझ सकता था। अन्यान्य स्थानों के सम्बन्ध में भी यही नियम जानना चाहिये। बुलाये जानेपर एक आकर्षण शक्ति की सहायता प्राप्त होती थी एवं मार्ग में किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता था। केदार एक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दिन इस नियम का उल्लंघन कर इन्द्रपुरी में गया था। यह सन् १९४२ ई० की २६ वीं नवम्बर की बात है। उस दिन इन्द्रपुरी में कोई उत्सव था—आनन्द के उल्लास में सारा धाम मानो भरपूर हुआ था। इस आनन्द का आस्वाद लेने के लिए केदार स्वतः प्रेरित होकर वहाँ गया था। स्मरण करने मात्र से दूत आया था। राह में भी आनन्द का आभास खूब प्राप्त हो रहा था, किन्तु केदार पुरी में प्रवेश नहीं कर सका। दरवाज़ा बन्द था। देख नहीं पाया—दिव्य चक्षु द्वारा भी कुछ नहीं देख पाया। उस समय उसका भूमिस्थित शरीर हिल रहा था। नारायण की इच्छा नहीं थी, इसलिए स्वयं चेष्टा करके भी सफल-मनोरथ नहीं हो सका। उसने कहा था, तब उसके ऊर्ध्व नेत्र के खुले रहने में कोई प्रतिबन्धक नहीं होता था। यह कहना अनावश्यक है कि उस समय उसका ऊर्ध्वनेत्र उन्मीलित नहीं हुआ था, केवल तृतीय नेत्र उन्मीलित हुआ था।

एक दिन इन्द्रपुरी में उसने नारायण की आरती देखी थी। आरती नित्य ही होती है। तब नारायण आसन पर उपविष्ट हो शून्य में रहते हैं। उनके नेत्र स्थिर और आधे मुंदे रहते हैं। देवता और देवियाँ सम्मिलित होकर आरती करती हैं। एक साथ बहुत दीपक जल उठते हैं—तेल, घी और अग्नि किसी की आवश्यकता नहीं होती है, अगणित हीरे के दीपक नारायण के सामने घुमाते ही सबके सब अपने आप जल उठते हैं। धूप की सुगन्ध प्रवाहित होती है—नाना प्रकार के बाजे बज़ते हैं। जिस दिन केदार ने आरती देखी थी उस दिन उसे प्रतीत हुआ था कि नारायण आनन्द में मानो आत्मविस्मृत हो गये हैं। उनके शरीर से तीव्र पद्म-गन्ध निकल रही थी। केवल यही नहीं। उनके मस्तक और शरीर के सब अवयवों से दिव्य सूक्ष्म किरणें छिटक रही थीं। आनन्द का घनीभूत भाव इतना अधिक था कि अनेक लोगों को ऐसा मालूम पड़ा कि उस आनन्द की निवृत्ति यदि न हुई तो मर्त्यलोक के सब नारायण-विग्रहों में तेज का संचार अत्यधिक मात्रा में वृद्धि को प्राप्त हो जायगा, जिससे वैराग्य आदि अत्यन्त मात्रा में सब जीवों में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संचारित होंगे और जगत् की धारा की रक्षा के सम्बन्ध में क्षति होने की संभावना है। तब ब्रह्मा को बुलाया गया। ब्रह्मा का आविर्भाव होने के साथ ही साम्यभाव का उदय हुआ।

केदार कहता था, प्रतिदिन आरती के बाद नारायण के भिन्न-भिन्न अङ्गों से भिन्न-भिन्न वस्तुएँ निकलती हैं एवं भक्तगणों के शरीर में आवश्यक स्थानों में प्रवेश करती हैं। अर्थात् ये वस्तुएँ अधिकार के अनुसार किसी के हाथ में, किसी के वक्षःस्थल मेंअथवा किसी के ब्रह्म-रन्ध्र में प्रवेश करती हैं।

कई वर्षों तक केदार की इस प्रकार की अवस्था चली थी। वह क्रमशः ही अधिकाधिक उत्कर्ष प्राप्त कर रहा था—शक्ति और ज्ञान दोनों ही ओर उसकी उन्नति हो रही थी। अन्त में उसको फिर देह-त्याग कर जाना नहीं पड़ता था। अपने स्थान पर स्थित होकर ही आवश्यकतानुसार सम्पूर्ण दृश्य वह देख पाता था। देश का व्यवधान कुछ भी नहीं रहता था।

इस अवस्था में एक महासिद्ध लोकोत्तर महापुरुष ने उस पर विशेष अनुग्रह किया था। इसका संक्षिप्त वृत्तान्त इस प्रकार है—

एक दिन अपराह्ण समय एक दिव्य पुरुष केदार के निकट आये और उसको उक्त महापुरुष का परिचय देकर दूसरे दिन अपराह्ण में चार बजे के समय स्थान विशेष में जाकर उनके साथ भेंट करने का उन्होंने अनुरोध किया। मालूम हुआ कि महापुरुष की प्रेरणा से ही उनके सन्देशवाहक के रूप में उक्त दिव्य पुरुष केदार के साथ भेंट करने आये थे। रास्ता और स्थान के विवरण की जिज्ञासा करने पर उस पुरुष ने कहा, "तुम चौक का रास्ता पकड़ कर विश्वेश्वरगञ्ज तक जाओगे—उसके बाद वहाँ से यथासमय उस स्थान का पता जान सकोगे। पूछने की जरूरत नहीं पड़ेगी।" केदार तदनुसार दूसरे दिन चार बजे के समय एक साइकिल लेकर रवाना हुआ। साथ में और कोई आदमी नहीं था। बिश्वेश्वरगञ्ज तक परिचित रास्ता पकड़ कर ही गया। विश्वेश्वरगञ्ज जाने के बाद उसे सामने एक बहुत बड़ा मैदान

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दिखाई दिया—उस मैदान को वहाँ उसने पहले कभी नहीं देखा था। किन्तु यह बात उस समय उसके मन में नहीं उठी। उसने उस मैदान को देखा, फिर देखा विश्वेश्वरगञ्ज से एक सीधा रास्ता उस मैदान के बीचों-बीच गया हैं--रास्ते के दोनों ओर जोते हुए खेत और विविध प्रकार के दृश्य सुशोभित हो रहे हैं। मैदान के मध्य में एक विशाल पत्थर था। उस पत्थर पर एक महापुरुष बैठे थे। केदार उनके दर्शन मात्र से समझ गया कि उन्होंने ही बुलाया है एवं उन्हीं के निकट मुझे जाना चाहिये। साइकिल से चलना बन्द कर वह पैदल चलने लगा और उस स्थान पर पहुंच कर उसने साइकिल रख दी एवं जूता उतार कर महापुरुष के निकट पहुँचा। महापुरुष ने उससे बैठने को कहा। इसके बाद प्रायः दो तीन घंटे दोनों में वार्तालाप हुआ। यह अत्यन्त गोपनीय और व्यक्तिगत था, सर्वसाधारण के उपयोगी नहीं। उसके अनन्तर उन्होंने कहा--"केदार, अब तुम अपने घर जाओ। तुम्हारी मां तुम्हारे लिए चिन्तित हुई हैं।" यह कह कर उन्होंने अपना हाथ सामने की ओर थोड़ा बढ़ा दिया। साथ ही साथ दूरत्व का पर्दा हट गया। केदार ने स्पष्टरूप से अपना घर, माँ, बहन आदि सबको देखा और उनकी बातचीत भी उसे सुनाई दी। केदार ने पूछा—हम कहाँ हैं? उन्होंने कहा; "हम इस समय ऐसे स्थान पर हैं जहाँ से विश्व का प्रत्येक स्थान अत्यन्त संनिकट दिखाई देता है।" यह कह कर एक बार हाथ बढ़ाते ही पहले का दृश्य हट गया। तब केदार ने पूछा, जिस पत्थर पर आप बैठे हैं, इसके नीचे क्या है?" महात्मा के थोड़ा मुसकुराकर पहले की तरह हाथ हिलाते ही पत्थर हट गया। केदार ने देखा—पत्थर के नीचे एक अलौकिक दृश्यमय विराट् आकाश-मण्डल, उसमें असंख्य ग्रह नक्षत्र मण्डल घूमता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है, यह देखकर वह स्तम्भित हो गया। उसे मालूम हुआ कि मानो महापुरुष समग्र ब्रह्माण्ड के ऊर्ध्व स्थित छिद्र के ऊपर आसन पर बैठे हैं। उसने महात्मा को प्रणाम किया। महात्मा के हाथ हिलाने पर पत्थर फिर अपनी जगह पर आगया। केदार ने घर की ओर प्रस्थान किया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वह जूता पहन कर साइकिल को पकड़ कर चलने लगा। पहले देखे रास्ते को पकड़ कर ही वह चला। उसने सोचा था कि मैदान के मार्ग का अन्त होने पर ही वह विश्वेश्वरगञ्ज पहुँचेगा। किन्तु वैसा हुआ नहीं। रास्ता समाप्त होने के साथ साथ उसने देखा कि वह इलाहाबाद रोड पर खड़ा है! निकट ही सन्त कबीर के जन्म-स्थान लहरतारा के अन्तर्गत कबीरजी का मठ है। विश्वेश्वरगञ्ज से वह लगभग तीन मील दूर है। यह कैसे हुआ यह उसकी समझ में नहीं आ सका। वह गया था पूर्व की ओर, किन्तु लौटा पश्चिम की ओर से।

दूसरे दिन जब केदार ने मुझे इस घटना का विवरण सुनाया तब वह स्वयं ही समझा नहीं सका। वह मैदान और उसके मध्य में स्थित उस महापुरुष का लीलापीठस्थल काशी से किस ओर और कितनी दूर था यह तक वह समझ नहीं पाया। इसके अनन्तर फिर भी कई बार वह महापुरुष से मिला था— मिलने का स्थान वह एक ही था। किन्तु जाने और वहाँ से लौटने का पथ प्रत्येक बार भिन्न भिन्न रहता। दूरत्व भी प्रत्येक बार विभिन्न प्रतीत होता। बाद में ऐसा हुआ था कि अपने घर से निकल कर कुछ ही दूर जाने पर वह मैदान और उसके केन्द्र-स्थल पर स्थित वह सिद्धासन उसे दीख पड़ता था।

सिद्ध भूमि की यही विशेषता है कि वह सदा और सर्वत्र ही अपने रूप में स्थित रहती है। वह जागतिक विचार से लौकिक प्रतीत होने पर भी वास्तव में अत्यन्त अलौकिक है। वह अखण्ड एवं अविभाज्य है। उसके अंश नहीं होते एवं सिद्ध पुरुष के इच्छानुसार अंशरूप में प्रतीत होनेपर भी वह समग्र और अखण्ड ही रहती है। यदि उस भूमि के अधिष्ठाता पुरुष किसी को आकृष्ट करने की इच्छा करें अथवा दर्शन देने के लिए उत्सुक हों तो लौकिक जगत्में जिस किसी स्थान से वह प्राप्त हो जाती है। केवल यही नहीं, लौकिक देश और काल के साथ वह ऐसे आश्चर्यरूप से युक्त हो जाती है कि दोनों के बीच कोई व्यवधान समझ में नहीं आ सकता। वह स्थूल नहीं है, सूक्ष्म भी नहीं है अथच एक साथ ही स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

केदार जब महापुरुष के साथ भेंट करने जाता तब वह स्थूल शरीर का अभिमान लेकर और स्थूल शरीर का अवलम्बन करके ही जाता था। यहाँ तक कि स्थूल जगत् की साइकिल भी उसके साथ रहती थी। लौकिक बाह्यज्ञान के साथ जाग्रत् अवस्था में ही वह जाता था, स्थूल देह त्याग पूर्वक सूक्ष्म देह का अवलम्बन करके नहीं; यहाँ तक कि स्वप्नादि या ध्यानादि अवस्था में भी नहीं। वह अर्थात् वह सिद्ध-स्थान हम लोगों के लौकिक देश के अतीत होने के कारण लौकिक जगत् के जिस किसी स्थान पर प्रकट हो सकता है और प्रकट होकर लौकिक जगत् के साथ सम्बन्ध स्थापन भी कर सकता है। आवश्यकता होने पर उस स्थान से दूसरे स्थान में चला भी जा सकता है। लौकिक जगत् के किसी उपाय का अवलम्बन कर उसका पता पाना कदापि संभव नहीं है। किन्तु अधिष्ठाता महापुरुष के दर्शन देने की इच्छा करने पर जिस किसी समय में और जिस किसी स्थान पर लौकिक सत्ता से सम्बद्ध हो कर वह अपने को प्रकट कर सकता है।

केदार सिद्धभूमि की यह महिमा क्रमशः समझ सका था एवं बाद में ऐसी अवस्था उसने प्राप्त की थी कि देश और काल का व्यवधान हटा कर जिस किसी प्रदेश में, जिस किसी समय में और जिस किसी स्थान में पहुँच सकता था। अवश्य इसके मूल में उस महापुरुष का अनुग्रह था इसमें सन्देह नहीं है।

केदार का अलौकिक जीवन-वृत्तान्त विस्तृतरूप से कहने की आवश्यकता नहीं है। मेरे साथ परिचित होने के बाद लगभग छह सात वर्ष वह जीवित रहा। इन कई वर्षों के बीच में ही उसके अलौकिक जीवन में इतना परिवर्तन हुआ था कि उसका यदि साधारण भी वर्णन किया जाय तो एक पृथक् पुस्तक लिखनी पड़ेगी। यहाँ उस जीवनवृत्तान्त की आलोचना करने की आवश्यकता मुझे प्रतीत नहीं हो रही है। वह पूर्व जन्म में ही आध्यात्मिक उन्नति के उच्चस्तर पर चढ़ चुका था। किसी विशेष प्रयोजन से उसे इस बार मनुष्य-लोक में देह धारण करना पड़ा था। देह धारण कर और अपना प्रयोजन सिद्ध कर वह अपने पूर्व

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निर्दिष्ट स्थान पर लौट गया। जगत् की कोई मलिनता उसको नहीं छू सकी।

अपने अनुभूत तत्त्वों में से जितने उसने मेरे निकट प्रकट किये थे, उनका कुछ अंश यहाँ क्रमशः प्रकाशित कर रहा हूँ।

साधक को उन्नति के साथ-साथ पहले तृतीय नेत्र खुलता है, उसके अनन्तर खुलता है दिव्य नेत्र। तृतीय नेत्र खुलने के बाद ध्यानावस्था में भावनानुसार देवताओं के दर्शन होते हैं। इस नेत्र के उन्मीलन के साथ-साथ अपने अन्दर स्थित नारायण के भी दर्शन प्राप्त होते हैं। थोड़ा सिर नत करते ही दर्शन प्राप्त होते हैं। इच्छा और अनिच्छा के साथ इस दर्शन का कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु दिव्य नेत्र खुलनेपर ध्यान की आवश्यकता नहीं रहती—तब जिस किसी समय जिस किसी देवता के दर्शन किये जा सकते हैं। सब मनुष्यों का तृतीय नेत्र नहीं होता, यहाँ तक कि सब देवताओं का भी नहीं होता। जिस मनुष्य के वह है, वह उपयुक्त साधना के द्वारा उसे खोल सकता है। बहुधा वह नेत्र रह कर भी विकास के अभाव में विलीन हो जाता है। शिव और दुर्गा का तृतीय नेत्र है। यह नेत्र स्वभावतः वक्ररूप में रहता है, किन्तु मस्तक को तिरछा करने पर वह वक्रता हट जाती है, अन्य समय वह ढँका रहता है।

तृतीय नेत्र और दिव्य नेत्र में अन्तर है। सुषुम्णा नाड़ी में वायु के प्रविष्ट होते ही ध्यान और समाधि का भाव प्रबल होता है। तब इसकी सहायता से देवता आदि के दर्शन होते हैं। यह दर्शन ही तृतीय नेत्र का दर्शन है। इस नेत्र को यथार्थ में दिव्य चक्षु कहना नहीं बनता। यह नेत्र साधन के प्रभाव से और अधिक विकास को प्राप्त होने पर दिव्य-चक्षु में परिणत होता है। तृतीय नेत्र खुलने पर भी साधक की शक्ति-धारा मार्ग में रुद्ध होकर ऊपर चढ़ने में सक्षम नहीं होती। साधना के द्वारा यहाँ रुकावट जब कट जाती है तब वह (शक्ति-धारा) ऊपर चढ़ती है। वही दिव्य चक्षु खुलने की अवस्था है। इस दिव्य चक्षु के खुलने पर ध्यान अथवा समाधि की आवश्यकता नहीं रहती।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुण्डलिनी शक्ति पुरुष के शरीर में जैसे विद्यमान है, वैसे ही स्त्री-शरीर में भी है। अन्तर इतना है कि पुरुषों की कुण्डलिनी देह की दाहिनी ओर लिपटी रहती है और स्त्रियों की रहती है बाईं ओर। दिव्य चक्षु खुल जाने पर पुरुष देह में बीच की धारा और दक्षिण ओर की धारा विशेषरूप से कार्य करती है, बाईं ओर की धारा तब निस्तेज हो जाती है। साधना के द्वारा मध्यपथ खुल जाता है। तब उस मार्ग से कुण्डलिनी यातायात करती है। कुण्डलिनी तब क्रमशः सीधी हो जाती है।

कुण्डलिनी सर्पाकार है। वह पीछे की ओर नाभि के नीचे लिपटी है। उसका मुँह भीतर की ओर घुसा रहता है। इस मुँह के नीचे मन दबा रहता है। साधक की साधना के प्रभाव से यह सर्प (सर्पाकार कुण्डलिनी) नीचे से ऊपर की ओर चढ़ता है। अवश्य, बीच-बीच में इस ऊर्ध्व गति में रुकावट भी आती है। मध्य पथ से ऊपर चढ़ते समय ध्यान का सूत्रपात होता है। यह ज्ञानचक्षु की निम्नतम अवस्था है। इस अवस्था में यदि कुछ देखना हो तो नेत्र मूँद कर ध्यान अथवा चिन्तन करने पर वह देखा जा सकता है। यह तृतीय नेत्र खुलने की अवस्था है, इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु तब भी नेत्र की तारिका उन्मीलित नहीं होती। बाद में जब भ्रूमध्य का आवरण या रुकावट दूर हो जाती है तब तृतीय चक्षु का वास्तविक उन्मीलन होता है। इसी का नाम दिव्य चक्षु है। इससे ज्ञात होता है कि ज्ञानचक्षु की दो अवस्थाएँ हैं—उक्त अवस्था को ही दिव्य-चक्षु कहा जाता है। दिव्य चक्षु खुलने पर अर्थात् तृतीय चक्षु की तारिका उन्मीलित होने पर देह से बाहर निकलने का मार्ग खुल जाता है। तब देव, देवी आदि को देखने के लिए नेत्र मूँद कर ध्यान अथवा चिन्तन करने का प्रयोजन नहीं रहता। सब कुछ सर्वदा ही स्पष्ट दिखाई देता है। यह नेत्र शान्त और स्थिर हैं—इसमें कदापि पलक नहीं गिरते। लौकिक चक्षु अर्थात् साधारण चक्षु के खोलने और न खोलने के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह चक्षु साँप के सिर के तुल्य है। साधारण चक्षु से देह से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बाहर निकला नहीं जा सकता, यहाँ तक कि मरण के समय भी नहीं निकला जा सकता। जो सब पुण्यात्मा लोग मृत्यु के समय चक्षु द्वार से बाहर निकलते हैं वे भी तृतीय चक्षु से ही बाहर निकलते हैं, साधारण चक्षु से नहीं। पर वे नीचे के अर्धचन्द्र का भेद कर बाहर निकलते हैं, बिन्दु का भेद नहीं कर सकते हैं। किन्तु जो साधक बहुत अधिक उन्नति कर चुकते हैं वे तृतीय नेत्र की तारिका का भेद कर बाहर निकलते हैं। यद्यपि एक तरह से प्रत्येक मनुष्य का ही तृतीय नेत्र है, क्योंकि उसके न रहने पर जीव का मनुष्य-देह लाभ करना ही संभव नहीं है। फिर भी वह साधारणतः अत्यन्त गुप्तरूप से रहता है। किसी-किसी का वह अत्यन्त अभिव्यक्त्युन्मुख अवस्था में रहता है। वे लोग यदि तीव्ररूप से साधना करें तो उनके तृतीय नेत्र खुलने की संभावना रहती है। किन्तु साधना न करने पर इस देहावस्था में उसके विकास की संभावना नहीं रहती।

तृतीय नेत्र से तीन चीज़ें उत्पन्न होती हैं—

(क) मन, जो कुण्डलिनी-सर्प के मुख के नीचे दबा है।

(ख) अग्नि।

(ग) द्वार, अर्थात् नाभिका द्वार।

देवताओं में सबके तीन चक्षु नहीं हैं, यह पहले ही कहा जा चुका है। जिनके तीन चक्षु नहीं हैं, उन्हें उसकी आवश्यकता भी नहीं होती। किन्तु महादेव तृतीय नेत्र के द्वारा ही देखते हैं, शेष दो नेत्र उनके विशेष किसी काम में नहीं आते।

ज्ञानचक्षु के तीन अंश हैं—

क—˘ यह अर्धचन्द्र है। पूर्ण चन्द्र महादेव की नाभि में है।

ख—❀ यह बिन्दु या तारिका है।

ग—( ) यह बिन्दु की वेष्टनी ज्योति या पुट है।

साधारण मनुष्य पुण्यात्मा होने पर मृत्यु के बाद चक्षु द्वार से बाहर निकलते हैं और अर्धचन्द्र पथ से गमन करते हैं। ज्ञानी पुरुष देहत्याग के बाद बिन्दुपथ से जाते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दिव्य चक्षु खुलने के समय एक सुनहली ज्योति के मध्य में इष्ट के दर्शन होते हैं। दिव्य चक्षु खुलने पर बाहर की विशाल शक्ति के आकर्षण से बाहर जाना पड़ता है। स्वयं इच्छा न होने पर भी जागतिक प्रयोजन के अनुसार आकृष्ट होकर जाना पड़ता है। क्योंकि तब भी पराधीनता रहती है। उसके बाद क्रमशः अपनी इच्छा-शक्ति का विकास होता है। ज्ञान के विकास के बहुत बाद इच्छा का विकास होता है। दिव्य चक्षु खुलने के बाद एवं सूक्ष्म देह का निर्माण हुआ रहने पर किसी देवता के साधक का स्मरण करते ही साधक उनके द्वारा आकृष्ट होकर उनकी ओर अग्रसर होता है और उनके निकट पहुँचता है। किन्तु इच्छाशक्ति खुलने पर इस प्रकार बाहर की ओर आकर्षण का जोर नहीं रहता।

दिव्य चक्षु खुलने पर भी मैं (केदार) आवृत (ढंकी) वस्तु नहीं देख पाता हूँ। इसका कारण है, अन्दर स्थित नारायण उसे नहीं देख पाते हैं। महादेव जब तक त्रिशूल द्वारा निरीक्षण नहीं कर लेते अथवा प्रदंशन नहीं कर देते तब तक नारायण के लिए देखना सम्भव नहीं है।

तृतीय नेत्र खुलने पर पहले-पहले धुंधलेपन से सब कुछ दिखाई देता है, स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं देता। पहले केवल ज्योति दिखती है, उसके बाद अस्पष्ट दर्शन होता है। अन्त में दिव्य चक्षु खुलने पर स्पष्ट दर्शन होता है। मेरे (केदार के) दिव्य चक्षु खुलने के पहले मेरे पिता के गुरुदेव (रसिक बाबू) ने मेरे चक्षु के सामने एक बार हाथ फेर दिया था। उसके साथ ही साथ दृष्टि के सामने से मेघ के तुल्य सब आवरण हट गया। दृष्टि खुलते ही अकस्मात् जगत् के आदिगुरु ब्रह्मा को मैंने देखा। ये ही आदि गुरु हैं, इनके भी जो गुरु हैं उन्हें अनादि गुरु कहते हैं।

दिव्य चक्षु खुलने पर पाँच आत्माओं में से कोई भी आत्मा बाहर नहीं जाते हैं। जब जाते हैं तब सब मिलकर समष्टि होकर नारायण के साथ ऊपर के मार्ग से चक्षु द्वारा जाते हैं। इसीलिए दिव्य चक्षु खुलने पर जाग्रत् अवस्था नहीं रहती है, (क्योंकि नाभि-मार्ग से आत्मा नहीं जाते हैं), स्वप्न नहीं रहता (क्योंकि नासिका-मार्ग से आत्मा नहीं जाते

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हैं) और सुषुम्ना भी नहीं रहती है (क्यों कि कर्णमार्ग से आत्मा नहीं जाते हैं)। दिव्य चक्षु अचल है, यह मैं पहले ही कह चुका हूँ। क्योंकि मस्तक का शिवलिङ्ग अचल है। शिवलिङ्ग का चलन हुए बिना चक्षु में चाञ्चल्य आ नहीं सकता। पर मुमुर्षु जीव के कान में मन्त्र देने के समय शिवलिङ्ग थोड़ा चञ्चल होता है।

दिव्यचक्षु खुलने पर शरीर से बाहर निकलते समय चक्षु के निकटवर्ती ज्ञान-चक्र और नाभि के निकटस्थित क्रिया-चक्र को प्रायः पूरा ही साथ लेकर जाना पड़ता है। जिसमें अधिक क्षमता होती है वे और भी अधिक चक्रों को साथ लेकर जा सकते हैं। चन्द्र जितने अधिक साथ रहते हैं उतनी ही सूक्ष्म शरीरी पुरुष को बहुत विषयों में सुविधा होती है।

मन दो हैं—एक शुद्ध और दूसरा साधारण। साधारण मन नाभि के निकट रहता है, वह ऊपर नहीं चढ़ता है। इसलिए स्वप्न आदि साधारणतः मन में रहते हैं। शुद्ध मन, अग्नि और जल नाभि के नीचे कुण्डलिनी के स्थान में रहते हैं। निद्रा के समय वह मन ऊपर चढ़ जाता है। यदि ऊपर न जाता तो मनुष्य-मात्र ही अत्यन्त ज्ञानी होता। जिन लोगों का दिव्यचक्षु खुल जाता है उनका शुद्ध मन ऊपर ही रहता है। वही चक्षु है—वह उतरता नहीं है। अग्नि नाभि में रहती है।

साधारणतः मनुष्य देह में तीन सर्प हैं—

एक कुण्डलिनी और दूसरे दो दोनों हाथों में। पुरुष के दाहिने हाथ का सर्प प्रबल होता है बायें हाथ का सर्प उसकी छाया है। स्त्रियों के बांये हाथ का सर्प प्रबल होता है और दाहिने हाथ का सर्प उसकी छाया है। कुण्डलिनी के ऊपर चढ़ जाने पर वह पुरुष के दाहिने हाथ में आती है, तब उसके दाहिने हाथ का सर्प कुण्डलिनी की जगह चला जाता है। उसी प्रकार स्त्रियों के पक्ष में बायें हाथ का व्यापार समझना होगा। कुण्डलिनी सर्प के दाहिने हाथ में आने पर उस हाथ की पाँच अंगुलियाँ अभयमुद्रा का आकार धारण करती हैं। वह साँप का प्राण है। साँप की पूँछ तब ऊपर की ओर रहती है। किन्तु साधारण अवस्था

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में हाथ के साँप का मुँह ऊपर की ओर और पूँछ नीचे की ओर रहती है। महादेव के भी तीन सर्प हैं—एक मस्तक पर, दूसरा कण्ठ में और तीसरा नाभि में रहता है।

कुण्डलिनी-सर्प के नीचे एक सफेद वस्तु है, वह जब ऊपर चढ़ने की चेष्टा करती है, किन्तु चढ़ नहीं सकती है तब मन चञ्चल होता है। कुण्डलिनी का मुख जाग्रत् अवस्था में ऊपर की ओर निरीक्षण करता है—उस समय वह सफ़ेद वस्तु ऊपर की ओर चढ़ने की चेष्टा करती है। किन्तु निद्रा और मूर्छा आदि समयों में कुण्डलिनी का मुख नीचे की ओर रहता है। इसीलिए तब मन चञ्चल नहीं होता है। उस सफ़ेद वस्तु के दो काम हैं—

(क) जाग्रत् समय में उसका कुछ अंश ऊपर चढ़ता है।

(ख) उसका प्रतिबिम्ब भिन्न-भिन्न स्थानों में पड़ता है। उसके कारण ही इन्द्रिय आदि अपना-अपना कार्य करने में समर्थ होते हैं।

जब इस शरीर को छोड़ कर बाहर निकला जाता है तब स्पष्टतया जाना नहीं जा सकता कि एक सफ़ेद ज्योति नाभि-भेद कर नारायण के साथ मिल कर (पञ्चात्मा के साथ) नेत्र द्वारा बाहर निकलती है। तब केवल सफ़ेद ज्योति के रूप में वह जानी जाती है और कुछ जाना नहीं जाता।

और एक लाल ज्योति उसके साथ मिल कर नूतन शरीर में प्रवेश करती है। ऐसा लगता है कि उस शरीर को दूत लेकर आता है अथवा तभी उसका आविर्भाव होता है। उस शरीर को धारण करने के अनन्तर गति आरम्भ होती है। बाद में इन्द्रपुरी के मार्ग में वह शरीर रह जाता है तब उससे बाहर निकल कर दूसरे शरीर में प्रविष्ट होना पड़ता है। जो प्रवेश करते हैं, वे स्वयं नारायण हैं; किन्तु उनकी आकृति साधक की आकृति के तुल्य होती है। इन्द्रपुरी के शरीर के बिना इन्द्रपुरी में प्रवेश नहीं होता। लौटते समय फिर उस शरीर को वहीं रख कर आना पड़ता है। और दूसरे शरीर में प्रवेश करना पड़ता है। उस शरीर से उतर कर स्थूल शरीर में प्रवेश करना होता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक-एक लोक (भुवन) एक-एक आकार वाले हैं। इन्द्रपुरी शङ्ख के तुल्य है चन्द्रलोक, देवलोक, कैलास, स्वर्ग, इन्द्रलोक और ध्रुवलोक—ये छह लोक, समष्टि-रूप में, पूंछ-रहित हाथी के तुल्य हैं। सूर्यलोक, भीष्मलोक और वैकुण्ठ—ये तीन लोक समष्टि रूप में मणिहीन तृतीय चक्षु के तुल्य हैं। चन्द्रलोक से ये तीन लोक एक प्रकार के दिखलाई देते हैं। जिसे सूर्यलोक कहा जाता है, वह उस तृतीय चक्षु की मणि अथवा तारा है। पृथक् रूप मे वह जाना जाता है। यमलोक, प्रेतलोक और पिशाच लोक—ये समष्टि भाव से मिलकर भैंस के सिर की तरह दृष्टि-गोचर होते हैं। आकाश दिखलाई देता है छत्राकार एवं आकाश के नीचे से पृथिवी दिखलाई देती है अन्धकारमय अर्धचन्द्र के सदृश।

देह से बाहर निकल कर लोक-लोकान्तरों में जाया जाता है। लोक बहुत हैं। सभी लोकों में सदा जाने की जरूरत नहीं होती है। पितृलोक की एक विशेषता है। इस इस लोक में जाने का मार्ग विभिन्न दिशाओं से है, क्योंकि जहाँ से ही क्यों न जाया जाय वहीं से पितृलोक का दरवाजा प्राप्त हो जाता है। साधारणतः मरने के बाद सभी को एक बार पितृलोक जाना पड़ता है। पितृलोक के ऊपर स्वर्ग है, स्वर्ग के ऊपर इन्द्रलोक है, उसके ऊपर कैलास, ध्रुवलोक आदि विभिन्न लोक हैं। इन सब लोकों में से सर्वोपरि इन्द्रपुरी है। इन्द्रपुरी से चन्द्रलोक ज़रा निम्नस्तर में है। इसके एक ओर सूर्यलोक और दूसरी ओर भीष्मलोक है। इन्द्रपुरी के अधिष्ठाता लक्ष्मीनारायण हैं, चन्द्रलोक के अधिष्ठाता ब्रह्मा हैं। प्रत्येक लोक के एक-एक अधिष्ठाता हैं। पितृ-लोक के नीचे नीला आकाश या धुआँ है। यह वास्तव में घनीभूत वायु के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसके नीचे एक प्रबलवेग वाला वायु का स्थान है। सबके नीचे पृथिवो है। मैं (केदार) पहले-पहल चक्षु के मार्ग से बाहर निकलता था। जब ऊपर से दूत आकर मुझे ले जाता था, तब वह औंधा होकर तैरने की जैसी मुद्रा में मुझे छाती के नीचे रखकर ले जाता था। उस समम मैं कुछ देख नहीं पाता था। लौटते समय मैं सामने सब कुछ देख पाता था, क्योंकि तब मेरा सामने का भाग खाली

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रहता था। धुआँ अथवा नीले आकाश का भेदन करते समय 'कड़कड़' ऐसा शब्द होता था। उसके बाद उसके मध्य स्थान में दरार पड़ जाती थी। ऊपर से सूर्य, चन्द्र आदि का प्रकाश इस निम्नवर्ती चहारदिवारी या आवरण का भेद कर अर्थात् छेद कर चला आता था। नीले आकाश के ऊपर ही पितृलोक है। यह प्रशान्त स्थान है और अत्यन्त विशाल है। इसके दक्षिण ओर कसाईखाना है—नरक आदि इधर ही हैं। पूर्व और पश्चिम दिशा में देवता आदि के धाम हैं। यह लोक पुष्पमय है। मर्त्यलोक छोड़ जाने पर फिर कहीं भी मिट्टी दिखाई नहीं देती। पितृलोक पुष्पमय है, स्वर्ग सुवर्ण भूमि है, ध्रुवलोक स्फटिकमय है, सूर्यलोक हीरकमय है, कैलास मणिमुक्तामय है। इत्यादि।

इन्द्रपुरी को आनन्द-धाम कहना भी उचित है। वहाँ जाने पर फिर यहाँ लौट आने की इच्छा नहीं होती है। मनुष्य मृत्यु के बाद पितृलोक में जाता है मैंने (केदार ने) गौ, बकरी आदि पशुओं को भी वहाँ जाते देखा है। पर पशुओं का स्थान अलग है और मनुष्यों का स्थान अलग है। किन्तु छोटे-छोटे जीव, जैसे खटमल, मच्छर, मक्खी इत्यादि, मर कर उस लोक में नहीं जाते। ये सब क्षुद्रजीव ऊपर वायु-मण्डल तक जा सकते हैं। जिस जगह प्रबल वेग से वायु बहता है, वहीं तक इनकी गति है। ये वहाँ से उतर आते हैं और फिर जन्म लेते हैं।

मनुष्य इच्छा करके ही जन्म लेता है अर्थात् वह जन्म लेना चाहता है, इसीलिए उसका जन्म होता है। किन्तु जिस मनुष्य की सब वासनाएँ यह देह रहते-रहते ही कट जाती हैं उसकी कोई आकाङ्क्षा जागती नहीं। स्मृति से इच्छा होती है, तदनुसार जन्म होता है। मूल में यदि माया न रहे तो जन्म कैसे होगा?

चन्द्रलोक में मनुष्य का कर्म संचित होता है। यहाँ जो जो कुछ करता है वहाँ उसका सब कुछ जमा हो जाता है। यह प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

प्रत्येक लोक का एक अधिष्ठाता या कर्त्ता है। उसके अतिरिक्त

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रत्येक लोक में नाना प्रकार के जीव निवास करते हैं। किस लोक में कौन है, यह यदि कहा जाय तो इससे यही प्रतीत होता है कि वह स्थान उसके विश्राम की जगह है; सदा वह उस लोक में बंधकर रहता हो ऐसी बात नहीं है। क्योंकि जिनमें शक्ति है, वे प्रत्येक लोक से ही नाना स्थानों में इच्छानुसार घूमते फिरते हैं। किन्तु जब घूमने की इच्छा नहीं रहती है अथवा प्रयोजन नहीं रहता है तब उस लोक में वह स्थित रहता है। किन्तु ऐसे भी कोई-कोई हैं, जिनका कोई लोक या विश्राम का स्थान नहीं है, जैसे नारद। इनका कोई विशिष्ट स्थान नहीं हैं, ये सदा समग्र विश्व में विचरते रहते हैं।

जब कोई ऊपर के किसी लोक में जाकर स्थान ग्रहण करने के लिए तैयार होता है तब अकस्मात् कहीं से एक देवता आविर्भूत होकर हाथ की हथेली दिखाते हैं। यदि वह कम्पित होती है तो अधिक समय तक स्थिति नहीं होती, अन्यथा स्थिति होती है। यदि उस स्थान से उतरना होता है तो केवल आसन को हिला देना पड़ता है। साथ ही साथ सर-सर करके उतरना होता है। स्थिति प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। जिन्होंने स्थिति-लाभ किया है वे स्थिति के रहते भी इच्छानुसार सर्वत्र विचर सकते हैं।

देह से बाहर निकल कर चलना-फिरना आरम्भ होने के प्रायः तीन मास बाद मेरे (केदार के) पाँच आत्माओं में से ढाई आत्मा इन्द्र-पुरी में स्थित हुए थे। शेष ढाई आत्मा मेरे स्थूल शरीर के आश्रित रहते थें एवं विविध स्थानों में घूमते फिरते थे। जो ढाई आत्मा इन्द्रपुरी में रहे थे उनके साथ किसी ऋषि के ढाई आत्मा मिलकर पूर्ण हुए थे। उस ऋषि के बाकी ढाई आत्माओं ने मेरे स्थूल शरीर में आकर उसको पूर्ण किया था। जब मैं इन्द्रपुरी में जाता था तब मैं अपने स्थितिशील आत्मा को देख पाता था। मैं देखता था कि वह खूब आनन्द में है।

एक दिन मैं (केदार) ब्रह्मा के आसनरूपी त्रिकोण अग्नि-कुण्ड के नीचे घोर अन्धाकरमय प्रदेश में गया था। वह अत्यन्त भयंकर स्थान है। अन्धकार का काला रंग देखते ही चित्त में भय का संचार होता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है । उस समय मेरे साथ ब्रह्मा थे, क्योंकि वे ही मुझे साथ ले गये थे। ब्रह्मा के नेत्रों की ज्योति और मेरे अपने नेत्र की ज्योति दोनों ने मिलकर चारों ओर का सारा स्थान प्रकाशित किया था। वहाँ भी जीवों के रहने योग्य स्थान है । उस अनन्त अन्धकार की सीमा नहीं है । मैं सब जगतों के बीच रास्ते से नहीं गया, इसीलिए अधिक भीतर जाना नहीं हुआ । अधिक भीतर प्रवेश करने पर मैं लौट नहीं सकता था । विवेक और ज्ञानशक्ति दोनों ही विलुप्त हो जाती थी।

ब्रह्मा की नाभि में सूर्य हैं । सूर्य ब्रह्मा के इष्ट देव हैं । महादेव की नाभि में पूर्ण चन्द्र हैं एवं कपाल पर तृतीय नेत्र के नीचे अर्द्ध-चन्द्र हैं ।

मनुष्य के हृदय में नारायण हैं, लेकिन वे सबके ठीक एक प्रकार के नहीं हैं । गाय के हृदय में ब्रह्मा और भगवती हैं। छोटे-छोटे जीव-जन्तुओं के हृदय में नारायण नहीं रहते, किन्तु मस्तक में रहते हैं । मनुष्य के हृदय में स्थित नारायण का स्थान एक किनारे पर है, बीच में नहीं है। बीच का स्थान खाली रहता है। दीक्षा होने पर इष्ट देवता गोलाकार ज्योति के रूप में हृदय के नीचे और नाभि के ऊपर के किनारे पर स्थान ग्रहण करते हैं। साधना से क्रमशः इष्ट देवता का विकास होता है । पैर से विकास आरम्भ होता है और क्रमशः सब अवयव प्रकट हो उठते हैं । तब नारायणके साथ उसका मिलन होता है । साधना से ही नारायण का भी आकार परिवर्तित होता रहता है। पैरों से यह परिवर्तन दिखलाई देता है । पहले ऊपर का अंश नारायण रहता है, नीचे का अंश इष्टदेव का आकार धारण करता है । पूर्ण मिलन होने पर नारायण इष्टदेव-रूप में परिणत हो जाते हैं, तब हृदय के खाली स्थान में इष्ट देवता विराजमान होते हैं, नारायण की पृथक् सत्ता फिर रहती नहीं है ।

देवताओं में भी सबकी देह में चक्र नहीं हैं। जिनकी देह में चक्र होता है, उनका फिर जन्म नहीं होता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इन्द्रपुरी का वृत्तान्त पहले कह चुका हूँ। बहुत लोग उसका गोलक के नाम से बखान करते हैं। इन्द्रपुरी में संगीत, नृत्य आदि निरन्तर चलता रहता है। विशेष अधिकार के बिना मर्त्यलोक का कोई जीव वहाँ जा नहीं सकता। वहाँ जाने का रास्ता हीरा और स्फटिक द्वारा निर्मित है। पितृलोक के निकट से वहाँ जाना होता है, पितृलोक होकर जाना नहीं पड़ता। इन्द्रपुरी शंख के आकार की है, लेकिन कुछ टेढ़ापन लिये हुए है। शंख के मुख से प्रवेश किया जाता है और पूँछ की ओर से बाहर निकलना पड़ता है। इसके ऊपर मैंने और कोई पुरी देखी नहीं है। इसके ऊपर एक सफ़ेद ज्योति मात्र दीख पड़ती है वहाँ आकाश नहीं है। उस ज्योति से ही देवताओं का रक्त अथवा रस उत्पन्न होता है। एक ओर अर्थात् ऊपर की ओर जैसे इन्द्रपुरी है, वैसे ही दूसरी ओर अर्थात् नीचे की ओर पातालपुरी के नीचे अग्निपुरी है। उसके नीचे असीम अन्धकार है।

मृत्यु के समय जो आत्मा नाभि-मार्ग से बाहर निकलता है, वह नाभि के निकटस्थ छोटे चक्र को प्रतिबिम्बरूप में अपने साथ ले जाता है। वह स्वप्न के समय चक्षु में स्थित छोटे चक्र का कुछ अंश साथ ले जाता है। सुषुप्ति के समय कुण्डलिनी के ऊपर के छोटे चक्र की ज्योति अथवा आभा को लेकर बाहर निकलता है।

प्रथम अवस्था में (पहले पहले) मैंने (केदार ने) जब शरीर से बाहर निकलना आरंभ किया तभी स्वर्ग में मेरा दीक्षाकार्य सम्पन्न हुआ था। मेरे स्वर्गीय पिता के स्वर्गीय गुरुदेव ने मुझे दीक्षा दी थी। उन्होंने लगभग १४ वर्ष हुए देहत्याग किया है। ये पहले पितृलोक में थे, बाद में उन्होंने स्वर्गलोक में गमन किया। इस समय वे इन्द्रलोक में हैं। ध्रुवलोक में जाने के समय फिर दीक्षा की आवश्यकता होती है। दीक्षा के बिना देहशुद्धि नहीं होती है। मैं जब इन्द्रपुरी में था तब वहाँ से पातालपुरी में जाने के लिए फिर दीक्षा की आवश्यकता हुई थी। दीक्षा के बाद इष्टदेवता कुण्डलिनी के मस्तक पर क्रमशः प्रकट हो उठे—क्रमशः वे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नारायण के निकटस्थ हुए। बाद में वह नारायण के साथ मिल गये। तब नारायण ने इष्टदेवता का आकार धारण किया।

मृत्यु के बाद नारायण अर्थात् इष्टदेवता अर्थात् इष्टदेवतारूपी साधक इष्टदेवता के लोक में गमन करते हैं और वहाँ निवास करते हैं। पुनर्वार दीक्षा न होने तक वहीं रहते हैं। उस लोक में अपने गुरुका प्रतिबिम्ब रहता है। उनके निकट फिर दीक्षा लेनी पड़ती है। उससे ध्रुवलोक का भेदन कर ऊपर चढ़ा जा सकता है। इस द्वितीय दीक्षा के देवता कुण्डलिनी से फिर प्रकट होते हैं। वह क्रमशः ऊपर चढ़ते हैं। उसके पश्चात् फिर दीक्षा प्राप्ति होने पर इन्द्रपुरी के ऊपर की वस्तु प्राप्त की जाती है। उसका भी क्रमशः विकास होता रहता है। द्वितीय और तृतीय देवताके मिलने के समय ऊपर मस्तक पर से एक क्रूर दृष्टिरूपी सफ़ेद ज्योति गिरती है। तब प्रथम देवता चले जाते हैं, द्वितीय और तृतीय देवता उस ज्योति में मिल जाते हैं। एकमात्र ज्योति ही दीख पड़ती है, तारा आदि अधिक दिखाई नहीं देते। प्रथम देवता लौट कर गुरु के नाभिकुण्ड में प्रविष्ट होते हैं। गुरु यदि तब पूर्वलोक में रहते हैं तो उनमें प्रविष्ट होते हैं। गुरु के स्वयं ऊपर के लोक में प्रविष्ट होने पर भी उनका प्रतिबिम्ब उस लोक में रहता है, उसी में प्रवेश होता है। इस प्रकार एक-एक शिष्य के सिद्ध होने पर गुरुदत्त शक्ति अपने आप गुरु में लौट आती है, सब शक्तियों के वापिस आ जाने पर वह प्रतिबिम्ब गुरु में मिल जाता है। इधर गुरु शक्ति अथवा मन्त्र या देवता प्रदान करने के अनन्तर कुछ रिक्तता को प्राप्त होते हैं। तब उनकी ज्योति कुछ मात्रा में ह्रास को प्राप्त होती है—जो जितनी अधिक दीक्षाएँ देंगे उनकी शक्ति उतनी अधिक कम होगी। जब तक शिष्यगण गुरुदत्त शक्ति के प्रभाव से अपना-अपना कार्य सम्पन्न न कर लेंगे तब तक वह शक्ति वापिस नहीं आएगी। उसके आने पर गुरु अपनी पूर्वावस्था प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन गुरु यदि स्वयं क्रियाशील हों और यदि मस्तक के साथ वे सम्बन्ध रखें तो वे स्वयं ही उस दान के कारण हुई क्षति की पूर्ति कर सकते हैं और यदि दीक्षा देने के समय मस्तक के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साथ योग रखा जाए तो इधर जैसे क्षय होता है, उधर वैसे ही साथ साथ पूर्ति हो जाती है। तीन का मिलन कदापि नहीं हो सकता। इसलिए प्रथम और द्वितीय के मिलनेसे जो होता है, वह जब तृतीय के साथ मिलने को प्रवृत्त होता है तब प्रथम वापिस चला जाता है।

साधारण लोगों के जागरण, निद्रा और मृत्यु के समय क्या होता है, यह बतलाता हूँ। कुण्डलिनी-सर्प मूलाधार में सटा रहता है। जब वह मुँह ऊपर की ओर करता है एवं दृष्टिपात करता है तब उससे एक ज्योति बाहर निकलती है, इस ज्योति के नाभि की ज्योति के साथ मिलने पर बाह्यज्ञान पैदा होता है। इस अवस्था में कुण्डलिनीके ऊपर की ओर से जल नहीं गिरता। यह जाग्रत् अवस्था की बात है, किन्तु निद्रावस्था में ऊपर से कुण्डलिनी के बगल में (पार्श्व में) जल गिरता है, उस समय सर्प का मुँह नीचे की ओर घुसा रहता है। तब नाभि की ज्योति कम रहती है। जलकी ज्योति नाभि में जाकर प्रकट होती है। मृत्यु के समय जल-धारा बन्द हो जाती है, सर्प की ज्योति बन्द हो जाती है एवं नाभि को ज्योति भी बन्द हो जाती है। इन सब के बन्द होने के कारण कुण्डलिनी-सर्प के नीचे स्थित सफ़ेद गोल ज्योति (सफेद पत्थर के तुल्य) उत्थित होती है एवं नाभि और हृदय से होकर निर्दिष्ट मार्ग से देह को छोड़कर बाहर निकल जाती है। जिसका दिव्य चक्षु खुल चुका हो, उसकी देह में दाहिने हाथ में अथवा बायें हाथ में सर्प रहता है। नीचे के सर्प के ऊपर अथवा उसकी बगल में सदैव जल गिरता है। सर्प का मुंह ऊपर की ओर रहता है, जल की ज्योति पहले सर्प के शरीर पर पड़ती है, बाद में नाभि में जाती है। इन दोनों ज्योतियों से नाभि की ज्योति म्लान और अभिभूत हो जाती है। सर्प के नीचे स्थित सफ़ेद ज्योति उठकर नाभि, हृदय और कण्ठ में होकर दिव्य चक्षु से बाहर निकल जाती है।

जब विष्णुदूत अथवा शिवदूत मुझे लेने आते थे तब उनके ऊपर से मेरी ओर ताकते ही मैं आकृष्ट होकर बाहर निकल जाता था, अपने को रोक नहीं सकता था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

केवल मनुष्यों के लिए ही चित्रगुप्त का खाता है। जब तारा स्खलित होता है अर्थात् जब गर्भ-संचार होता है, तभी खाते में नाम चढ़ जाता है। साथ ही साथ नाम लिखना हो जाता है। वही नाम बाद में—जन्म के पश्चात् रखा जाता है। आयु समाप्त होने पर दूतगण नाम देख पाते हैं। तभी वे आत्मा को लेने के लिए उतर आते हैं। यह कालमृत्यु की बात है। अकालमृत्यु में दूत नहीं ग्राते। एकाएक मृत्यु होनेपर झटिका में अर्थात् ऊपर वायुमण्डल में, जहाँ सदा तरङ्गे खेलती रहती हैं, वहाँ नाम चढ़ता है। वहाँ भूत, प्रेत आदि अनेक देवयोनियाँ रहती हैं। वे ही दूतरूप में आकर आत्मा को लेकर पितृलोक आदि का दर्शन करा देते हैं। तब यमदूत आते नहीं। लेकिन यदि बहुत लोगों की एक-साथ अकाल मृत्यु हो—जैसे नाव या जहाज के डूबने से--तब कुहरे में बहुत नाम तरङ्गों में तैर उठते हैं और उनके परस्पर के संघर्ष से एक उत्तेजना पैदा होती है। उससे यमराज चञ्चल हो उठते हैं। वे सक्रोध स्वयं उतर आते हैं और पाश से सब आत्माओं को जकड़ कर ले जाते हैं। कीड़े, मकौड़े आदि छोटे-छोटे जीव मृत्यु के बाद कुहरे में जा मिलते हैं। अत्यन्त छोटे जीव एक साथ मरने पर यहीं वायुमण्डल में मिल जाते हैं, कुहरे में भी नहीं जाते। छोटे जीवों में कुछ भी नहीं है। मच्छर, मक्खी आदि सूर्य के तेज से और पृथिवी से जो तेज निकलता है उससे जीवित रहते हैं। लोगों के श्वास-प्रश्वास से स्वभावत: एक तेज ऊपर की ओर उठता है उसीसे क्षुद्र-क्षुद्र जीव जीवन धारण करते हैं। कबूतर आदि में एक वस्तु है—एक अत्यन्त साधारण वस्तु; देखने में जल के तुल्य। विशेष कुछ नहीं। बीच में भगवान् और ब्रह्मा हैं; बानरों में भी एक देवता हैं। जो देवता घोड़े में रहते हैं। वे घोड़े के मुँह में रहते हैं हृदय में नहीं रहते। बानर की आत्मा पूँछ से बाहर निकल जाती है—अन्यान्य जीवों की आत्मा भी पूँछ या मुख से बाहर निकलती है। मनुष्य के सिवा और किसी जीव में वह सफ़ेद पत्थर के तुल्य ज्योति नहीं रहती है।

कर्म-फल से मनुष्य के पशुरूप में जन्मग्रहण करने पर भी और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पशुओं से उसमें भेद रहता है। पशु के नेत्र देखते ही जाना जा सकता है कि यह वास्तविक पशु है अथवा पशुयोनि में उत्पन्न मनुष्य है। पहले मनुष्य अवस्था में जो सफ़ेद ज्योति विद्यमान थी पशु देह धारण करने पर भी वह रहती है। वह नेत्रों द्वारा बाहर निकलती है—पशुदेह की मृत्यु के समय वह अन्य पशुओं के तुल्य नहीं निकलती है।

मनुष्य की मृत्यु के बाद एक वस्तु जगत् में रह जाती है। उस वस्तु का मैंने 'उरूस्तम्भक' नाम रखा है। वह वस्तु अधिक ऊपर चढ़ नहीं सकती—नीचे की ओर घूमती फिरती रहती है।

स्वर्गादि लोक से पृथिवी की बात का स्मरण होने पर अथवा जन्म-ग्रहण करने की इच्छा होने पर पतन होता है एवं जन्म ग्रहण करना पड़ता है। पितृलोक से साधारणतः जन्म होता है। कभी-कभी स्वर्गलोक से भी जन्म देखा जाता है। अधिक ऊपर चढ़ जाने पर प्रायः जन्म लेना नहीं पड़ता; किन्तु मैंने उसे देखा नहीं है।

बाह्यज्ञान, देहात्मबोध, इन्द्रिय की क्रिया ये सब नाभि की क्रिया से होते हैं—नाभि मध्य से—एक ज्योति उठती है, उसी से यह बोध-शक्ति होती है। निद्रा के समय कुण्डलिनी सर्प का मुँह, जो ऊपर भाग में है, वह ऊपर की ओर उठता है। तब उसकी दृष्टि ऊपर की ओर पड़ती है। उस समय उस ज्योति के साथ नाभि की ज्योति मिल जाती है। साधारण लोगों की नाभि की ज्योति दुर्बल होने से कुण्डलिनी की ज्योति से अभिभूत हो जाती है। इसीलिए बाह्यज्ञान नहीं रहता है।

इन्द्रपुरी से भी कभी-कभी पतन होता है। मैंने वहाँ से एक जने को चन्द्रलोक में पतित होते देखा था। पतन का कारण था अधिकार न रहने पर भी इन्द्रपुरी में गमन। वह व्यक्ति किसी देवता के भीतर अधिष्ठित होकर इन्द्रपुरी में गया था। लेकिन यह सत्य है कि वहाँ जाने पर फिर मर्त्यलोक में पतन नहीं होता। इन्द्रपुरी के मध्यस्थान में जाने पर फिर पतन नहीं होता। इस स्थान पर एक ओर नारायण हैं एवं दूसरी ओर लक्ष्मी हैं। बीच का स्थान खाली है! दोनों का मिलन होने पर उनके साथ साधक भी मिल कर एक हो जाता है। तब एक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ही रहता है। ये इच्छा करने पर इन्द्रपुरी के ऊपर छिद्र द्वारा बाहर जा सकते हैं। परन्तु लय की आशङ्का नहीं है, फिर लौटकर स्वरूप में आ सकते हैं। एक बार स्वरूप में स्थिति हुई है, इसलिए फिर भय नहीं रहता। इन्द्रपुरी का भेदन करने पर जो ज्योति पायी जाती है ब्रह्मरन्ध्र का भेदन करने पर भी ठीक वही ज्योति प्राप्त होती है। किन्तु मुझे (केदार को) मेरे सञ्चालक गण ने ब्रह्मरन्ध्र के मार्ग से जाने नहीं दिया है, क्योंकि उसमें भय है। वायु की उत्तेजना का उपशम हुए बिना ब्रह्मरन्ध्र के पथ से जाना उचित नहीं है।

इन्द्रपुरी का मार्ग बहुत सुन्दर है—पितृलोक की दोनों ही दिशाओं से रास्ता है, बीचोंबीच से सीधा मार्ग है। किन्तु उस मार्ग से सब नहीं जा सकते हैं। मैं (केदार) एक बगल से जाता था, बीच में कोई लोक नहीं पड़ता है। मैं पहले एक लोक के बाद दूसरे लोक का भेद कर क्रमशः जाते-जाते चन्द्रलोक का भेद करके गया था। अब फिर वह क्रम आवश्यक नहीं है।

जागरण के समय एक आत्मा बाहर जाता है और संचरण करता है। उस समय यदि भीतर के चार आत्मा यदि किसी कौशल से मिलते हैं तो बाहर का वह आत्मा स्तम्भित हो जाएगा। संमिलित होने के समय वह आत्मा बाहर नहीं रहेगा; फिर मिल नहीं सकेगा। भीतर भी नहीं आ सकेगा। परन्तु साधारणतः जागरण के समय चार आत्मा सम्मिलित नहीं होते। हाँ, साधक अथवा योगी की बात अलग हैं। क्योंकि उस समय नारायण की दृष्टि रहती है, इसलिए सब आत्मा काम करते हैं। निद्रा के समय नारायण विश्राम करते हैं, केवल श्रोत्रद्वार खुला रहने से चार आत्मा सम्मिलित होते हैं।

यदि शिवलिङ्ग के साथ नारायण का मिलन न हुआ हो और पाँच आत्मा एक साथ सम्मिलित हो कर नारायण के साथ मिलित हुए हों तो दिव्य चक्षु द्वारा बाहर निकलना होता है। शिवलिङ्ग के साथ नारायण का मिलन होने पर ब्रह्मरन्ध्र द्वारा बाहर निकला जाता है।

हृदय में जो नारायण हैं, वह प्रतिबिम्बरूप हैं। वैकुण्ठ और इन्द्रपुरी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के नारायण भी मूल नहीं हैं। वैकुण्ठ में नारायण हैं, किन्तु लक्ष्मी नहीं हैं। इन्द्रपुरी में नारायण के साथ लक्ष्मी हैं। किन्तु जो मूल हैं वे इन्द्रपुरी के भी अतीत हैं—किन्तु वे हैं उसी पत्थर के मध्य में जो ज्योतिःस्वरूप है। वहाँ ब्रह्मा, नारायण और महादेव में कोई भेद नहीं है। सब एकाकार ज्योतिःस्वरूप हैं।

इन्द्रिय द्वारा विषय ग्रहण के समय क्या होता है? मस्तक के शिवलिङ्ग प्रदर्शक हैं--वे दिखा देते हैं। हृदय के नारायण द्रष्टा हैं—वे देखते हैं। आत्मा और नारायण दोनों एक होकर देखते हैं। नाभिस्थ ब्रह्मा विचारक हैं। अर्थात् वह वस्तु इस प्रकार की है या उस प्रकार की है ऐसा विचार करते हैं।

जब मैं इन्द्रपुरी से लौटता था तब घर के निकट आकर ऊपर से अपने शरीर को देख पाता था। सब लोगों को देख पाता था, उनकी बात-चीत भी सुनता था, किन्तु समझ नहीं पाता था। शरीर में प्रविष्ट हुए बिना कुछ समझा नहीं जा सकता।

ब्रह्मा की अग्नि-शिखा से सुवर्ण की उत्पत्ति होती है, नारायण की रक्ताभ अङ्गज्योति से नकली सोने का जन्म होता है। नारायण के नाभिकमल से आविर्भूत हुए ब्रह्मा के नारायण की ओर ताकते ही नारायण के अङ्ग में ब्रह्मा की लाल ज्योति लग जाती है। महादेव के पैरों के तलवों से रजत (चाँदी) की उत्पत्ति होती है।

जन्म-ग्रहण के समय नारायण पूर्व-स्मृति काट देते हैं—किन्तु वे उसे अपने अधीन नहीं रखते हैं, कुण्डलिनी में दबा कर रख देते हैं। कुण्डलिनी को हिला सकने से वह स्मृति फिर जाग सकती है।

पिता-माता के मरने के बाद अशौच काल में शरीर में घाव आदि लगने पर मृत आत्मा को वह लगता है। उस समय मृत की आत्मा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है।

स्थूलजगत् में जो शब्द होता है उसका लय होता है 'झटिका' में (पृथ्वी के ऊपर जहाँ सर्वदा प्रबल वेग से वायु बहता है), उस स्थान से वह शब्द लौट आता है और पृथिवी में प्रविष्ट होता है। उसी के प्रभाव से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भूकम्प और गर्जन होता है। इन्द्रपुरी में जो नाद, सङ्गीत आदि हो रहा है वह इन्द्रपुरी के ऊपरी छिद्र से बाहर जाकर पाषाण में अर्थात् ज्योति में लीन होता है—वह फिर लौट कर नहीं आता है—मनुष्य के भीतर जो नाद या अनाहत ध्वनि होती है वह जल से उठती है। यह जल कुण्डलिनी से एक सूत ऊपर-ऊपर रहता है। यह अनाहत शब्द मस्तक में जाकर लीन होता है। यह ज्योति में लीन होता है। उस ज्योति की स्थिति होने पर ही दिव्य चक्षु खुलता है।

मनुष्य के हृदय में जो पाँच आत्माएँ हैं वे भौतिक है—पञ्चभूत हैं। देवता के भीतर जो पाँच आत्माएँ हैं वे देवता हैं। मनुष्य-स्थल में पाँच आत्माओं के चालक नारायण हैं, जिनके साथ पांच आत्माएं मिल जाती हैं। देवपत्त में उन पाँच आत्माओं के चालक "महापुरुष" हैं। वे पाँच आत्माएं उनमें मिल जाती हैं।

मैं (केदार) निद्रित अवस्था में मनुष्य की आत्मा को ले जा सकता हूँ। जाग्रत् अवस्था में नहीं ले जा सकता। क्योंकि नाभि-ज्योति को बन्द कराये बिना बाह्यज्ञान रोका नहीं जा सकता एवं बाह्यज्ञान रहते ले जाना कठिन है। बाह्यज्ञान रोकने में बहुत शक्ति की आवश्यकता होती है। स्वप्नावस्था कट जाने पर ही नाभिगोलक से एक वस्तु बाहर निकल जाती है और चारों ओर घूमतो रहती है। फिर निद्राका आवेश आते ही वह वस्तु उसी रास्ते से भीतर पैठ जाती है। तब फिर एक वस्तु नाक के मार्ग से बाहर निकलती है। उससे स्वप्न-दर्शन होता है। उस वस्तु को ब्रह्मतालु से ऊपर उठाने पर वहां एक छेद होता है—स्थान फट जाता है। अत्यन्त सूक्ष्म छेद होता है। उस मार्ग से ऊपर चढ़ने पर फिर मनुष्य लौट नहीं सकता। फिर पुनरागमन नहीं होता है।

शरीर के भीतर कितने ही चक्र हैं। ये सदा ही घूमते रहते हैं—जाग्रत् अवस्था में भी और निद्रित अवस्था में भी। इन चक्रों के घूमने के कारण स्थूल और सूक्ष्म देह क्रिया करती हैं। ये यदि न घूमें तो कोई क्रिया नहीं हो सकती है। तब देह निःस्पन्द हो उठती है। यह जो हाथ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पैरों का हिलना, बोलना आदि है, सब कुछ चक्रों के घूमने के कारण होता है।

सिद्ध अवस्था लाभ के पूर्व यदि ऊपर चढ़ना हो तो नीचे की देह का त्याग कर एवं उसे नीचे रख कर ऊपर की देह धारण कर जाना पड़ता है। लौटते समय फिर उस त्यक्त देह को धारण कर लौट आना होता है। किन्तु सिद्धावस्था प्राप्त होने पर ऊपरी लोकों में चढ़ते समय नीचे के लोक की देह को ऊपरी लोक की देह में लीन करना होता है। और भी ऊपर उठना हो तो इस देह को भी ऊर्ध्वतन देह में लीन करना होता है। इस प्रकार जिसकी जिस जगह पर स्थिति है वह वहाँ तक चलता है। मैं (केदार) जिसे 'मण्डप' कहता हूँ वहाँ तक यही नियम है। उसके उपरान्त नीलाकाश है, उसके अनन्तर सफेद ज्योति है। उस सफेद ज्योति में चरम देह भी लीन हो सकती है--उसी को निर्वाण कहते हैं। उस स्थान में लय होने पर फिर मनुष्य लौट नहीं सकता है। नीचे लय होने पर लौटना संभव है, परन्तु बिना लौटे भी रहा जा सकता है।

मर्त्यलोक में तीन भाग हैं--ऊर्ध्व, मध्य और निम्न। मध्य भाग में ही सब निवास करते हैं। अधोभाग में योगिगण योगसिद्धि के लिए गमन करते हैं। ऊर्ध्व भाग में मृत्यु के पश्चात् गति होती है। मृत्यु के बाद कुछ समय तक वहाँ रहना पड़ता है--जब तक आकाशवाणी कर्णगोचर नहीं होती तब तक रहना होता है।

स्वाभाविक देवताओं की स्थूलादि तीन देह एक होकर स्थूल रूप से विद्यमान रहती हैं।

पर तीन देहों को पृथक्-पृथक् भी किया जाता है। मनुष्य जब साधना के बल पर देवत्वलाभ करता है तब वे तीन देह पृथक् होकर ही रहती हैं, यद्यपि वहाँ भी स्थूल में ही विलीन रहती हैं।

देवलोक में हम सब मनुष्यों की ही सूक्ष्म देह स्थित है। यहाँ केवल कारण और स्थूल देह रहती हैं। दीक्षा से वह सूक्ष्म सत्ता क्रमशः उतरती है, साथ ही साथ कुण्डलिनी जागती है और बड़े चक्र काम करते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क्रमशः सूक्ष्मसत्ता आकर चक्र में विलीन हो जाती है। अर्थात् दीक्षा-देह के साथ एक हो जाती है। इस समय षष्ठ चक्र पर्यन्त सब चक्र जाग जाते हैं और दिव्य चक्षु उन्मीलित होता है

साधारण लोगों को सूक्ष्म देह उस प्रकार प्राप्त नहीं होती है, इसलिए वे स्थूल से बाहर नहीं निकल सकते हैं। जब सूक्ष्म देह प्राप्त होती है, तब कारण देह आंशिक भाव से वहाँ जाती है। स्थान खाली रखना संभव नहीं है। अपनी एक सत्ता वहाँ रखना आवश्यक है। यदि वहाँ कारणांश न रहे तो सप्तम चक्र का विकास होना संभव नहीं होता है। नारायणादि योग से उत्थित होकर देवलोक में चारों ओर दृष्टिपात करते हैं—वे मर्त्यलोक की ओर दृष्टिपात नहीं करते हैं। वहाँ कारणांश रहता है, इसलिए उस दृष्टि को ग्रहण करना संभव होता है। इससे मस्तक के चक्र-विकास में सहायता प्राप्त होती है। मस्तक के चक्र का विकास पूर्ण होने पर फिर देवलोक में कारणांश नहीं रहता, तब योग सिद्ध होता है।

नारायण की सृष्टि नाभि से होती है। ब्रह्मा की सृष्टि दृष्टि से होती है। तीन दृष्टियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

(१) नारायण की वक्रदृष्टि—यही इन्द्रिय-ज्ञान है।

(२) तृतीय नेत्र की दृष्टि अथवा दिव्य चक्षु। इसके द्वारा सम्मुखस्थ समस्त देवता और वस्तुएँ देखी जाती हैं। उससे दाहिनी ओर, बाईं ओर और पीछे देखा नहीं जाता। जिस स्तर पर रहा जाता है, उसे देखा जाता है। दिव्य चक्षु के द्वारा ऊपर की वस्तुएँ देखी नहीं जाती हैं। क्योंकि उन्हें देखने के लिए उल्टे पीछे की ओर देखना पड़ता है। वैसा करने पर मस्तक से जो ज्योति दिव्य चक्षु में गिरती है उसमें बाधा पहुँचेगी। पर चित होकर लेटने से ऊपर की वस्तु देखी जाती है। दिव्य चक्षु से मर्त्यलोक का बिन्दु दृष्टिगोचर नहीं होता।

(३) मस्तक की दृष्टि—यह दो प्रकार की है, ऊर्ध्वमुखी दृष्टि और सर्वतोमुखी दृष्टि। प्रथम के द्वारा ऊपर के सब लोकादि देखे जाते हैं, द्वितीय के द्वारा चारों ओर का सब कुछ दिखाई देता है। जब जिस

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्तर पर रहा जाता है, तब इच्छानुसार उसी स्तर के सब ओर देखा जा सकता है।

योगसिद्धि पूर्ण होने पर मस्तक का चक्र और चक्षु अवश्य ही जागेंगे। देवलोक में कारण अंश भी रहता है। दिव्य चक्षु खुलते-खुलते सूक्ष्म शरीर भी आकृष्ट होता है। सप्तम चक्र के खुलने पर देवलोक में कारणांश रखने की आवश्यकता नहीं होती। आवश्यकता मुख्यतः यही है—उस शरीर में दीक्षा के बाद उन्नति का निदर्शन रहता है। ज्ञानी पुरुष को भी ऊपर से मृत्युलोक में आकर वाणी सुन कर देवलोक होते हुए जाना पड़ता है। तब उस निदर्शन से गति निर्दिष्ट होती है। दूसरी आवश्यकता है—साधक के विपत्ति में पड़कर कातर होने पर उसका देवलोक-स्थित कारणांश व्याकुल होता है। व्याकुल होने पर नारायण आदि उसकी ओर दृष्टि डालते हैं, उसकी रक्षा करते हैं। किन्तु मस्तक का चक्र खुलने के बाद चक्षु खुलने पर साधक की सर्वत्र व्याप्ति होती है। इसलिए देवलोक के साथ स्वभावतः ही सम्बन्ध होता है। वहाँ कारणांश की रक्षा की आवश्यकता नहीं रहती है।

जो योगसिद्ध होकर मस्तक के ऊपर नेत्रद्वारा प्रयाण करता है, उसे भगवान् स्वयं लेने को आते हैं, अपने निकट ले जाते हैं। व्यापक नेत्रपथ से बाहर निकल सकने पर वह चारों ओर विकीर्ण हो जाता है। सब लोकों में सर्वत्र ही उसे ढूंढने पर पाया जाता है।

कर्म सूक्ष्म में रहता है। दिव्य चक्षु खुलने पर कर्म कट जाता है। किन्तु कर्मका मूल शेष रहता है। मस्तक के चक्र का विकास न होने तक वह निवृत्त नहीं होता।

चक्षु खुलने पर जो दिखाई देता है, देह त्याग देने पर उसी में स्थिति होती है। चक्षु खुलने के बाद चारों ओर व्यापक दृष्टि होने पर व्याप्ति-लाभ होता है, किन्तु स्थिति नहीं होती है। अग्नि, जल और वायु—इन तीन वस्तुओं के एकत्र होने पर श्वास बाहर निकलता है। श्वास बाहर जाकर फैल जाता है और अलग हो जाता है। वहाँ बाहर के जल के साथ ये जलकण मिल जाते हैं। स्वभावतः अग्नि के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साथ अग्नि मिलकर प्रबल भाव धारण करता है। इसलिए इनके प्रभाव से जल भीतर प्रवेश नहीं कर सकता है, केवल वायु, अग्नि भीतर प्रवेश करते हैं।

किसी के कुछ कहने पर एक देवता उस शब्द को पहुंचा देते हैं। मैं (केदार) जब लिखता हूँ तब उस देवशक्ति के अधीन अपना हाथ और कलम छोड़ देता हूँ।

मच्छर, मक्खी तथा अन्यान्य क्षुद्रजीवों में कला नहीं है। ये सब निःश्वास से अग्नि, जल और वायु के योग से उत्पन्न होते हैं। इनके ऊपर जो सब जीव हैं जैसे पक्षी, बिल्ली, कुत्ता आदि इनमें कला है (१-४ कला)। पृथ्वी के उत्तर-स्थित शङ्खमुख से वह कला आती है। उसके ऊपर भी जीव हैं, जैसे हाथी, घोड़े आदि। उनकी कला आती है झटिका (घूर्णवात, आँधी) से (५-८ कला)। इसके बाद साधारण मनुष्यों की कला है (९-१२ कला)। ये सब कलाएँ देवलोक से आती हैं। आधी कला आती है और आधी कला सूक्ष्म शरीर के साथ वहीं रहती हैं। दीक्षा के बाद साधना द्वारा १३-१६ कला का विकास होता है। तब ज्ञानचक्षु अथवा दिव्य चक्षु का विकास होता है। दीक्षा के समय मस्तक की ज्योति और नाभि की ज्योति के मिलन से नीचे की अग्नि, जल और मन की क्रिया होती है। उससे सफ़ेद ज्योति ऊपर जाती है और मस्तक से नीचे उतर कर दिव्य चक्षु की उज्ज्वलता उत्पन्न करती है। सोलह (१६) कलाओं से दिव्य चक्षु का पूर्णतया उन्मीलन होता है। यह कला मस्तकस्थ चक्र से नीचे उतरती है।

१६ से ३२ कलाओं का विकास होने पर मस्तक का चक्षु खुलता है। इन कलाओं का संचार होता है नारायण के वक्षःस्थल की ज्योति से। वस्तुतः ये कलाएँ कहाँ से आती हैं, यह ठीक समझ में नहीं आ सकता है।

मनुष्य के गर्भ में रहते समय जिन कलाओं का विकास होता है वे ही जन्म लेने के बाद पाँच छह महीने रहती हैं। वे मां की कलाएँ हैं;

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वे चिरकाल तक नहीं रहती हैं। वापिस जाकर मां में ही विलीन हो जाती हैं।

मण्डप के ऊपर पीत ज्योति है। उसमें जिन लोगों का आकार विलीन होता है वे केवल अपने को ही देख पाते हैं, और किसी को भी नहीं देख पाते हैं। अपने को ज्योतिरूप में देखते हैं। आकार यहाँ रहते हैं—अनन्त आकार, किन्तु मालूम नहीं पड़ते, मुझे (केदार को) स्मरण होता है कि पैर के तलुए की चक्षुज्योति द्वारा मैंने असंख्य केवली पुरुषों को देखा था।

मण्डप में जाने पर केवल परमात्मा ही संग जाता है, देह का भाग बहुत कुछ स्थूल में लौट आता है। इसलिए स्थूल देह को देख कर जाना नहीं जा सकता।

सप्तम चक्र, यही ऊर्ध्वमुख चक्षु है इसके अनन्तर चारों ओर को चक्षु—इसके उपरान्त सृष्टि और लय की प्रक्रिया की शिक्षा लेना पड़ता है—इसके उपरान्त जो अवस्था होती है उसमें सृष्टि है, लय नहीं है। उसके उपरान्त सृष्टि नहीं है, केवल लय ही लय है। इसके भी बाद केवल-मात्र ज्योति—शुद्ध ज्योति है। चारों ओर के चक्षु के खुलने पर स्थूल देह मिट्टी हो जाती है। तब स्थूल और कारण देह मिलकर साधारण देह के आकार के परिवर्त में चक्र का आकार धारण करते हैं।

दिव्यचक्षु के द्वारा मर्त्यलोक में देवताओं का आविर्भाव, सञ्चार आदि देखा जाता है। बातचीत भी होती है। देह त्याग कर बाहर निकलने पर फिर इसकी आवश्यकता नहीं होती है। तब एकमात्र मस्तक का चक्षु ही काम करता है।

बिल्कुल गोलोकपर्यन्त उस चक्षु की क्रिया होती है। गोलोक के बाहर चारों ओर चक्षु काम करता है। वहाँ पादतल (पैर के तलुएं) के चक्षु के द्वारा भी विशेष दर्शन होता है।

जिसका लय अथवा निर्वाण होता है उसके आकार का एक आभास, जहाँ से लय होता है, वहाँ रह जाता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साधारण कर्म-संस्कार आज्ञाचक्र तक रहते हैं। इन सब संस्कारों के फलस्वरूप सुख-दुःख का भोग होता है, किन्तु साधन-संस्कार आज्ञा-चक्र के ऊपर रहते हैं।

कल्पना और मन दो वस्तुएँ हैं। साधन के लिए कल्पना की आवश्यकता होती है, किन्तु सांसारिक कार्य के लिए मन आवश्यक है। कल्पना ही भाव है। दीक्षा के बाद कल्पना का पथ प्रशस्त होता है। तब कल्पना का विकास और चक्र का विकास साथ ही साथ होता है। दो चक्रों के मध्य में है मन अथवा कर्मसंस्कार। पर जो यह कहा जाता है कि नाभि की ओर मन रहता है, वह स्थिति की ओर लक्ष्य करके कहा जाता है। कण्ठ से आज्ञा चक्र पर्यन्त विकास होने पर सूक्ष्म शरीर दिखलाई पड़ता है। आज्ञा चक्र से सूक्ष्मदेह शरीर से बाहर निकल कर जा सकती है। कारण अर्थात् मन आज्ञा चक्र पर्यन्त ही रहता है। वह सदा ही रहता है सही, किन्तु काम नहीं कर सकता है। मूलाधारादि चक्रों में जो दर्शन होता है, वह विशुद्ध दर्शन नहीं है। क्योंकि उसके साथ मन का संस्कार रहता है। इसीलिए विविध लोगों को नाना प्रकार के दर्शन होते हैं। विशुद्ध दर्शन होता है आज्ञा चक्र के बाद, क्योंकि वह स्थान मन के अतीत और कर्म-संस्कार-विहीन है। कल्पना सर्वत्र ही है, इसके द्वारा सारा विश्व देखा जा सकता है, प्रयोजन होने पर दिखाया भी जा सकता है। कहीं भी जाने की आवश्यकता नहीं है, जाना संभव नहीं है। स्पर्श किया जाता है, यहाँ तक कि दूसरे को कराया भी जाता है। सूक्ष्म देह से बाहर होकर भी सर्वत्र जाया जा सकता है, किन्तु अपने को दिखाया नहीं जा सकता, स्पर्श भी नहीं होता। यदि स्पर्श करना हो तो मन की सहायता आवश्यक होती है। और एक बात है। कल्पना में देखना हो तो लक्ष्य चाहिए। जो लक्ष्य हो वही देखा जाता है। किन्तु सूक्ष्म में बाहर निकलने पर घूमना-फिरना भी होता है एवं अवान्तर विषय भी देखा जाता है, जो लक्ष्य के बाहर की वस्तु है। कल्पना शुद्ध हो अथवा अशुद्ध ही हो, मर्त्यलोक की वस्तु है, सूक्ष्म देवताओं की वस्तु है। कल्पनाशक्ति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का विकास दीक्षा के बाद से होता है। शुद्ध कल्पना न होने तक सूक्ष्म देह स्थूल से बाहर निकल सकती है, किन्तु कल्पना शुद्ध होने पर फिर बाहर निकलने का प्रश्न नहीं उठता। तब कल्पना के द्वारा ही सब दर्शन, प्रदर्शन सम्पन्न होते हैं। आज्ञा के ऊपर शुद्ध कल्पना है। आज्ञा से कण्ठ तक केवल देखने की शक्ति होती है।

'सूक्ष्म'—यह आदि सृष्टि में आविर्भूत है। जिन तीन संस्कारों को लेकर आत्मा होती है वही 'कारण' है। 'स्थूल'—यह प्रसिद्ध है।

शुद्ध कल्पना के द्वारा जो देखा जाता है वह बदलता नहीं है, अपनी देह ही हो अथवा अन्य कुछ ही हो, शुद्ध सत्य रूप में देखा जाता है। मन के द्वारा जो देखा जाता है, वह बदलता है।

सहस्रार का भेद होने पर सूक्ष्म देह में स्थिति होती है। यह चिन्मय देह अथवा ज्ञान देह है। तब मृत्यु नहीं रहती है, इस देह का ही रूपान्तर होता है। सहस्रार पर्यन्त अपनी सूक्ष्म देह दीख पड़ती है, सत्य जगत् भी दीख पड़ता है, किन्तु उसमें स्थिति नहीं होती।

महाप्रलय में कुछ भी नहीं रहता, सब कुछ ब्रह्म की ज्योति में प्रविष्ट हो जाता है। चिन्मय देह भी प्रविष्ट हो जाता है। पर नूतन सृष्टि में वह फिर बाहर आता है। किन्तु जिसका निर्वाण होता है वह फिर बाहर नहीं निकलता है। वह रहता ही नहीं। निर्वाण किसका होता है? जो ब्रह्म-ज्योति में मिल जाता है, उसका होता है। किन्तु 'मिलता' कौन है? मृत्यु के बाद आदि स्थूल देह में जाकर दो भाग होते हैं—एक आत्मा या कारण, दूसरा सूक्ष्म। कारण-देह में कर्मानुसार फलभोग के लिए गति होती है: इस प्रकार संस्कार कट जाने के बाद फिर जन्म नहीं होता है। अर्थात् कारण जब आदि स्थूल देह में लीन होता है, तब सूक्ष्म अथवा आदि सृष्ट शुद्ध देह मात्र रहता है। उसकी दीक्षा होती हैं, वह लोक लोकान्तर में घूमता है। इस प्रकार शक्ति बढ़ाते-बढ़ाते यदि कभी उसकी इच्छा होती है कि ब्रह्म-ज्योति में प्रवेश करना चाहिये, ऐसा होने पर उसकी अपनी शक्ति ब्रह्म में प्रवेश करती है। तदनन्तर अपनी शक्ति के अनुपात के अनुसार ब्रह्म-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शक्ति प्राप्त होती है। इससे शक्ति निष्क्रिय होती है। वह शक्तिहीन हो जाता है और निर्वाण प्राप्त होता है। यदि ब्रह्मज्योति में प्रवेश करने की इच्छा न हो तो क्रमशः अग्रसर होता रहता है। वहाँ चक्र नहीं हैं। अपने आप क्रमशः अग्रसर होता है। चन्द्रलोक का भेदन होने पर ही देवत्व-लाभ होता है। उसके बाद क्रमशः शक्ति का विकास होता है। किन्तु कितना ही विकास क्यों न हो, परम देवता के समान नहीं होता, हो भी नहीं सकता—कुछ कम रहेगा ही। आदि देवता वे हैं, जो सर्व-प्रथम ब्रह्मज्योति से प्रकट होते हैं, एवं जिनसे अन्यान्य समस्त देवता और समस्त स्थूल सत्ता बाद में प्रकट होती है।

काल में मृत्यु होने पर साधारणतः चार स्तरों का भेद करना पड़ता है। प्रथम स्तर त्रिकोण है, दूसरा चतुष्कोण, तीसरा गोल और चौथा एक प्रबल ज्योति है जिसका मैं 'झटिका' के नाम से वर्णन करता हूँ। काल-मृत्यु के बाद गति इस क्रम के अनुसार ही होती है। किन्तु एक साथ बहुत लोगों की मृत्यु घटित होने पर उसका अकाल मृत्यु के नाम से निर्देश किया जा सकता है। उस अवस्था में प्रथम तीन स्तरों से सम्पर्क नहीं होता है, एकाएक चौथे स्तर से सम्पर्क होता है और उसके बाद गति होती है। काल और अकाल में बहुत बड़ा अन्तर है। काल का स्वरूप ठीक मनुष्य के तुल्य है। वह अति सूक्ष्म और अति शुभ्र है। उसके तीन नेत्र हैं, यह स्पष्टतया ही देखा जाता है। वे नेत्र अत्यन्त उच्च स्थान में स्थित हैं और उनसे अति कोमल ज्योति छिटकती है। अकाल का कोई स्वरूप नहीं है। वह देखने में ठीक ज्योति के तुल्य हैं। इस ज्योति में सब कर्म-संस्कारों का विभाग हो जाता है, तदुपरान्त गति होती है। काल में अलग-अलग मृत्यु होने पर जीव को दूत लेने के लिए आते हैं। उस स्थल में कर्म साथ-साथ दिखलाई पड़ता है, गति भी साथ-साथ होती है। अकाल ज्योति में अनेक प्रकार की अवान्तर ज्योतियाँ रहती हैं। उनसे कर्म की ज्योति छाँट लेनी पड़ती हैं। ज्योति से ही कर्म का वैशिष्ट्य जाना जा सकता है। इन सब ज्योतियों में स्थूलभाव से तीन श्रेणियाँ हैं। एक श्रेणी की ज्योति देख

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कर जीव के कर्मों का पता लगाया जाता है। किन्तु साधना का यदि पता लगाना हो तो अन्य प्रकार की ज्योति देखनी पड़ती है। और भी ऊपर के व्यापारों को यदि जानना हो तो इन दो प्रकार की ज्योतियों से पृथक् ज्योति आवश्यक होती है। किन्तु काल में ये सब भाव नहीं रहते हैं। वह उस सूक्ष्म भाव से देखा जाता है। किन्तु शरीर के दाह के समय वह दिखाई नहीं पड़ता है। देह के दग्ध हो जाने पर दिखलाई देता है। देह के दग्ध न होने तक उसके साथ सम्बन्ध रहता है, इसलिए दिखाई नहीं देता।

सूक्ष्मभाव से विभिन्न कर्म और विभिन्न ज्योतियाँ दिखलाई देती हैं। सांसारिक कर्म, साधना के कर्म और हाथ के कर्म, ये तीन प्रकार के कर्म, मृत्यु के बाद सूक्ष्म भाव में देखे जाते हैं। ऊर्ध्व में जाने पर ज्योति की तेजः शक्ति के द्वारा वह स्थूल में देखे जाते हैं। तब वे व्यक्ति दूसरे स्तर में गमन करते हैं अथवा स्वर्ग में रहते हैं। आगे दीक्षा भी हो जाती है। बाद में वे कर्म 'झटिका' में संचित होते हैं। उन व्यक्तियों के जन्म ग्रहण करने पर वे व्यवहार-योग्य होते हैं। कर्म लोक-लोकान्तर के नीचे रहते हैं; उसके बाद फिर कर्म का सन्धान नहीं मिलता। तब समझना होगा कि उस व्यक्ति की इन्द्रलोक में गति हुई है। वह शक्ति किसी को भी दी नहीं जा सकती है। अन्त में वह शक्ति आदि स्थूल देह में वापिस आ जाती है। अर्थात् एक प्रबल ज्योति में प्रत्यावर्तन करती है; उसमें युक्त होती है और अन्त में उसमें मिल जाती है। यह अवस्था होने पर समझना होगा कि उस व्यक्ति की ब्रह्मलोक की दीक्षा सम्पन्न हो गई है। अथवा उसने और भी उच्चतर गति प्राप्त की है। यहाँ तक कि वह आदि ब्रह्म के साथ मिल गया है, यह भी हो सकता है। इसके उपरान्त जिसमें शक्ति कम रहती है, उसे वह दी जाती है।

कारण और सूक्ष्म देह इन दो इन्द्रियों के साथ युक्त रहती हैं। स्थूल देह वैसी नहीं है। इन्द्रिय शब्द से मैं (केदार) मन का भाव समझता हूँ। स्थूल देह सदा चिन्ता में मग्न रहती है, किन्तु कारण वा सूक्ष्म देह वैसी नहीं हैं। उनमें सदा ही आनन्द खेलता है। इसलिए उनसे सब

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकार की साधनाएँ सम्पन्न होती हैं। वे दोनों देह सूक्ष्म वस्तु को जानने के लिए सब साधनाओं में संलग्न रहती हैं। स्थूल देह की भी उपयोगिता है, क्योंकि यदि स्थूल देह न रहे तो कोई भी कार्य हो नहीं सकता। असल बात तो यह है कि स्थूल देह ही काम में लगती है। वे (कारण और सूक्ष्म) तो उपलक्ष्य मात्र हैं। पर स्थूल के द्वारा दर्शन नहीं होता। दर्शन अत्यन्त शुद्ध है; इसलिए सूक्ष्म का प्रयोजन होता है। वह परमाणु मात्र है। उसे कोई ग्रहण नहीं कर सकता है। जैसे कोई वायु को रोक नहीं सकता है, वैसे ही उसकी भी धारणा नहीं की जा सकती है। वह व्यापक ज्योतिः स्वरूप है। किन्तु स्थूल वैसा नहीं है। साधना करने पर मनुष्य चारों ओर ज्योति विकीर्ण करता रहता है। यह व्यापक अवस्था अथवा सूक्ष्म का आकार है।

मणिपूर चक्र के जागने पर पहले ज्ञान का भाव मिलता है। ऊपर के चक्रों का विकास होने पर ज्ञान का विकास बढ़ता है एवं उसके अनुसार कर्म-संस्कार क्रमशः कटते रहते हैं। क्रम से आज्ञा-चक्र के निकट पहुँचने पर पूर्ण ज्ञान का विकास होता है। इसके अनन्तर सूक्ष्म अवस्था में गति होती है। तब उस व्यक्ति की शरीर से बाहर निकलने की सामर्थ्य होती है। तदुपरान्त शुद्ध कल्पना की उत्पत्ति होती है। तब फिर सूक्ष्म अवस्था का प्रयोजन नहीं रहता। इस अवस्था में उसके चक्र सहस्रार तक पहुँचे जाते हैं।

सृष्टि का क्रम इस प्रकार का मुझे (केदार को) प्रतीत होता है। सर्वप्रथम परमाणु, तदनन्तर ब्रह्म, उसके पश्चात् दो देवताओं की सृष्टि और पाँच अवस्थाओं का प्रकाश होता है। यहाँ तक कि निष्पत्ति होने पर लोक-लोकान्तर की सृष्टि का आरंभ होता है एवं इस सृष्टि के सिलसिले में देवताओं की अभिव्यक्ति होती है। उसके बाद मर्त्यलोक का विकास और सबके अन्त में मनुष्य की सृष्टि होती है। यह सृष्टि दृष्टि के द्वारा होती है, इच्छाशक्ति के द्वारा नहीं। पूर्वोक्त दो देवताओं में जो प्रबल रहता है, उसी की दृष्टि सृष्टिरूप में परिणत होती है। पहले जो कुछ रचित हुआ है, वह इच्छाशक्ति का कार्य है। वह दृष्टि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बराबर पड़ती रहती है, इसीलिए सृष्टि भी अनवरत हो रही है। पहले मनुष्य का आकार मात्र होता है—उसमें कोई शक्ति नहीं रहती है। यह ज्योतिर्मय है। पीछे यह आदि स्थूल देह में चला जाता है। वहाँ पहुँचने पर उसमें तीन प्रकार की शक्ति का संचार किया जाता है। एक सांसारिक शक्ति है, दूसरी साधन शक्ति और तीसरी ऊपर के साथ योग रखने की शक्ति। इस समय वे पूर्वोक्त पाँच अवस्थाएं आ जाती हैं। तब दो भाग होते हैं एक आत्मा अर्थात् उस शक्ति की समष्टि, दूसरी शुद्ध वस्तु अर्थात् वे पांच अवस्थाएँ। तदुपरान्त ये अपने आप ही देवलोक में चली आती हैं। किन्तु वहाँ की किसी वस्तु को देख नहीं पातीं, केवल अपने को ही देखती हैं। इस तरह वहाँ स्थिति होती है। इसके बाद मर्त्यलोक से आकर्षण होता है, तब मर्त्यलोक में अवतरण होता है और माता के गर्भ में प्रवेश होता है। जन्मकाल में एक देवता उसके शरीर पर हाथ फेर जाता है, और बाद में उसे दीक्षा दे जाता है। तब उसका कार्य चलता रहता है। कार्य समाप्त होने पर मृत्यु होती है। मरण के पश्चात् उसके दो भाग होते हैं। एक शुद्ध और दूसरा अशुद्ध। तब वह शुद्ध वस्तु लोकलोकान्तरों में घूमती फिरती है, किन्तु अशुद्ध वस्तु वायुमण्डल में प्रवेश करती है। अथवा निम्न स्तर पर उतर आती है, यदि उसका पुनर्जन्म हो। बाद में उसकी वह शक्ति लीन हो जाती है। इस प्रकार वह चलता रहता है। जब उसकी ये पाँच अवस्थाएँ होती हैं, तब अशुद्ध वस्तु नहीं रहती है।

इड़ा और पिङ्गला—ये ही पुरुष और प्रकृति हैं। इन्हें कर्ता कहते हैं। कर्ता के चारों ओर कला का विकास होता रहता है। उसके चारों ओर महाशक्ति का कार्य होता है। तब साधारण मनुष्य कार्य कर सकते हैं। महाशक्ति के चारों ओर चक्र का विकास होने के कारण ज्योति घूमती रहती है। उसका कार्य भली भाँति संपन्न होने पर चक्र का विकास होता है। साधना ठीक-ठीक चलने पर ज्योति का भाग नहीं रहता, पर उसका लय नहीं होता। ज्योति का प्रकाश उपलब्धि (ज्ञान) में नहीं आता। तब वह नाभि के निकट स्थित रहता है। साधना में अग्रसर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होते रहने पर वह नाभि के निकट से बाहर निकलता है। पूरा बाहर निकलने पर मन अत्यन्त चञ्चल होता है— तब अपनी शक्ति के द्वारा मन को नियन्त्रित करना आवश्यक होता है। किन्तु किसी चक्र का विकास हुए बिना मन स्थिर नहीं होता। उस अवस्था में मन में उद्वेग होने पर निर्वाण की आशङ्का रहती है। इसीलिए कोई-कोई लोग दीक्षा के बाद ही पागल हो जाते हैं। साधारण लोग इसका रहस्य समझ नहीं सकते। मन के अत्यन्त प्रबल होने पर ही मनुष्य पागल होता है। कारण और सूक्ष्म देह के ठीक तरह से तैयार रहने पर पागल नहीं होता तब वहाँ से कुछ शक्ति ग्रहण करना संभव होता है।

पुरुष और प्रकृति के सारांश से इसका विकास होता है। साधना के बिना इस शक्ति का आकर्षण नहीं किया जा सकता है। आकर्षण एक बार हो जाने पर फिर शक्ति बराबर रह जाती है। यहाँ तक कि साधना बन्द हो जाने पर भी वह नष्ट नहीं होती है। वह हृदय के निकट स्थित रहती है। मृत्यु के अनन्तर उसका लय होता है, किन्तु स्वरूप रह जाता है। दीर्घ काल के बाद फिर वह भी नहीं रहता है। किन्तु सूक्ष्म और कारण का विकास होने पर भी किसी प्रकार का प्रकाश प्राप्त नहीं होता है। पर साधना तीव्र होने पर साधारणतः तीसरे जन्म में प्रकाश खुल जाता है। जो जन्म-जन्मान्तर से साधना करते आये हैं वे बहुधा एक जन्म में ही दर्शन प्राप्त करते हैं, उन्हें अधिक साधना करनी नहीं पड़ती है। यही उनका अन्तिम जन्म है। इसी जन्म में उनका मोक्ष हो जाता है। किन्तु इस प्रकार के लोग अत्यन्त विरल हैं।

पुरुष और प्रकृति का वेग रहने तक सूक्ष्म और कारण का कार्य चलता रहता है। किन्तु बाद में उनकी साधना नहीं रहती। यह अवश्य साधारण मनुष्यों की बात है। सूक्ष्म वस्तु में शक्ति देने पर उसका कार्य होता है, उसको शक्ति आती है पुरुष और प्रकृति से। साधारण मनुष्य साधना की वस्तु उस सूक्ष्म में रखते हैं एवं कारण में उसका विलय होता है। उसका कोई आकार न होने के कारण वह निराकार है। पहले उसमें किञ्चित् शक्ति रहती है, बाद में वह नहीं रहती है— केवल ज्योति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ही रह जाती है। उसके अनन्तर ज्योति भी नहीं रहती। अन्त में सूक्ष्म का कोई भी चिह्न नहीं रहता। सूक्ष्म और कारण कोई भी बाद में नहीं रहता है। इन सब की नरदेह में आवश्यकता होती है। बाद में जब ज्योतिर्मय देह प्रकट हो उठती है तब ये सब बहुत निम्न स्तर की वस्तुएँ हो जाती हैं। इस अवस्था में उसके अन्दर सर्वदा एक ऐसी वस्तु प्रविष्ट होती है जो वैराग्य की अपेक्षा श्रेष्ठ है। वह वस्तु रहती है मानव देह में एवं उसका विकास भी मानव देह में होता है। बाद में उसकी ज्योति किसी शुद्ध स्तर में लीन होती है; सूक्ष्म देह संचरण करने वाले किसी व्यक्ति में प्रवेश करती है। उसका लय नहीं होता, दूसरी अवस्था में स्थिति होती है।

मनुष्यों में मुझे कई स्तर दिखाई देते हैं—पहला स्तर आकार है। देवता की दृष्टि से इसी स्तर की सृष्टि होती है।

दूसरा स्तर—आदि स्थूल देह है। इस स्थान में मनुष्य को तीन प्रकार की शक्ति प्रदान की जाती है। उसके बाद उसमें पाँच (शक्ति) आती हैं। तीसरा स्तर—उसका परवर्ती है। यह देवलोक के अन्तर्गत है।

चतुर्थ स्तर-मातृगर्भ में अवतरण है। तब ऊपर का सम्पूर्ण ज्ञान विद्यमान रहता है। ऊर्ध्व जगत् दिखाई भी देता है एवं उसका कार्य भी होता है।

पाँचवाँ स्तर है भूमिष्ठ होना। तब ऊपर का ज्ञान दब जाता है। बाद में उसको देह में एक जन दबाये रहता है। क्योंकि उसके प्रकट रहने पर मृत्यु हो सकती है। इसलिए तब वह बढ़ता नहीं है। बढ़ने पर देवता उसे दीक्षा प्रदान करते हैं। इसके पश्चात् उसमें कला का भाव प्रकट होता है। बाद में सूक्ष्म रूप में चक्र का भी विकास होता है। पहले विकास होता है, तदुपरान्त साधना करने पर उसके प्रकाश का पता चलता है। इसी प्रकार क्रमशः चलता रहता।

तदनन्तर छठे स्तर में उसकी मानसिक दीक्षा होती है। एवं क्रमशः बारह कलाओं का विकास होता है। इस अवस्था में उत्तम कार्य होते

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रहने पर चक्र का विकास होता रहता है। क्रमशः साधन, क्रिया आदि बढ़ते रहते हैं।

सातवें स्तर में निर्वाण का समय आता है। तब मन अत्यन्त चञ्चल होता है। तब ऊपर से कोई उसे वर देने को उद्यत होता है, किन्तु वर लेना नीति-विरुद्ध है। वर को अस्वीकार करने पर निर्वाण नहीं होता है एवं साधना क्रमशः आगे बढ़ती रहती है।

आठवें स्तर में मुक्ति होती है। तब सोलह कलाएँ खुल जाती हैं और पूर्णत्व लाभ होता है। साथ ही साथ तीसरा नेत्र खुल जाता है।

नवम में भूमि प्राप्ति होती है। उस अवस्था में भी साधना चलती है। तृतीय नेत्र के खुलने पर ही साधक का आकार प्राप्त होता। उस अवस्था में साधना चलती रहती है। ऊपर भी ठीक इसी प्रकार की भूमि है वह लोकलोकान्तर की अवस्था है।

दशम स्तर मोक्ष है। इस समय जन्म मृत्यु नाम की कोई वस्तु नहीं रहती है। इस अवस्था में सृष्टि और संहार करने की क्षमता उत्पन्न होती है। किन्तु मुक्ति की अवस्था में जन्म की बातें कहना सम्भव नहीं। क्योंकि ऊर्ध्वलोक में जाकर मुक्ति होने पर जन्म हो भी सकता है। पर मर्त्यलोक में मुक्ति होने पर जन्म की आशङ्का नहीं रहती है। तब सृष्टि और संहार का अधिकार प्राप्त होता है। तब देवताओं की अपेक्षा उच्च अवस्था प्राप्त होती है। यही अन्तिम अवस्था है। साधारण मनुष्य को इस अवस्था की प्राप्ति में बहुत समय लगता है।

साधक की दो अवस्थायें विशेषरूप से उल्लेख-योग्य है—पहली मुक्ति और दूसरी मोक्ष। जो सृष्टि और संहार कर सकते हैं, उनकी एक ही अवस्था देखी जाती है; वे द्वितीय नामकी किसी वस्तु को नहीं जानते हैं। जो लोग और भी गम्भीर प्रदेश में अवरोहण करते हैं उनकी कोई अवस्था नहीं होती। वे लोग बिना अवस्था के ही साधना कर सकते हैं, वही चरम स्थिति है साधारण लोगों के लिए यह स्थिति अति दुर्लभ है। कितने ही जन्म-जन्मान्तर बीत जाते हैं फिर भी साधना बन्द नहीं होती हैं। पर इसमें भी विलम्ब होता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किन्हीं को दर्शन होता है पर बोध नहीं होता है किन्हीं को बोध होता है, दर्शन नहीं होता। मनुष्य का मन सदा वायु के साथ युक्त रहता है। उसमें अनेक वस्तुएँ देखी जाती हैं, किन्तु वह किसी काम में लगता नहीं है। यह बात साधारण मनुष्य भी देख पाता है। अपने स्तर में साधना हुए बिना ठीक नहीं होता है। जन्म जन्मान्तर तक साधना कर आने पर भी बहुधा कुछ भी दिखाई नहीं देता, अपने स्तर की साधना न होने के कारण ऐसा होता है। अनेक लोग बहुत कुछ देखते हैं यह सही है, किन्तु उसका कुछ मूल्य नहीं है, किन्तु यथार्थ साधना के समय जो देखते हैं उसका मूल्य है। दीक्षा होकर भी कुछ न देखने पर जानना होगा कि अपने स्तर की साधना नहीं हो रही है। बहुधा बहुत चक्रों का भेद हो जाने पर भी दर्शन नहीं होता है। अपने स्तर की साधना होने पर दर्शन होता है, किन्तु समझ न सकने के कारण बोध नहीं होता है।

मनुष्य का मन सदा वायु के साथ योगयुक्त रहता है; इसलिए उसमें नाना प्रकार के भाव उठते हैं। उसके साथ बाहरी परमाणुओं का संयोग होता है। मन और बाहरी परमाणुओं का योग होने पर उस समय के मन का भाव अर्थात् उस वस्तु में जो रहता है वह देखा जाता है। देवता की मूर्ति रहने पर वह देखी जाती है। साधना से भी ऐसा दर्शन हो सकता है। मन को स्थिर करने पर भी बहुत कुछ देखा जाता है। इस अवस्था में मन को काम करना पड़ता है। किन्तु उस अवस्था में कुछ भी करना नहीं पड़ता है। उसमें साधना का बड़ा व्याघात होता है। मन के साथ योग हो जाने पर जो दर्शन होता है, वह साधना के समय काम आता है। पर बहुत लोगों को ऐसा नहीं होता है। इसके चलते रहने पर चक्र का विकास होता है, इसलिए कुछ-कुछ उन्नति की संभावना रहती है।

योग और ध्यान—इन दो में पार्थक्य है। ईश्वर के साथ योग ही यथार्थ योग है। आराधना को ध्यान कहते हैं। जिनकी आराधना की जाती है, बाद में उनका आकार दिखाई देता है। किसी वस्तु का अनुभव ही ध्यान है। उस समय योग रहता नहीं है, वह अपने आप ही होता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

केवल मनके भाव के साथ ही वह होता रहता है। पर कुछ शुद्ध संस्कार मन के साथ रहने चाहिये।

नाभि के ऊपर सूक्ष्म वस्तु का विकास होता है। जहाँ मनका भाव रहता है अर्थात् मन स्थिर होकर जहाँ रहता है वहीं सूक्ष्म का विकास होता है। साधारण लोग और साधक का यह होता है, किन्तु योगी का पथ भिन्न है।

उपसंहार

केदार का वृत्तान्त समाप्त हुआ। बालक सब तरह ही अलौकिक था, इसमें सन्देह नहीं है। वह लिखना पढ़ना विशेष जानता न था, शास्त्र पढ़ना तो दूर की बात रही, वास्तव में कभी शास्त्र विचार भी उसने सुना नहीं था। इसीलिए बहुधा उसकी सब बातें समझने में कष्ट होता था। वह प्रत्यक्ष अनुभव से ही बातें कहता था, किन्तु उसकी परिभाषा प्रायः उसकी स्वरचित होती थी। कभी-कभी वह ऊर्ध्व लोक के अशरीरी आत्मा की परिभाषा लेकर भी बोलता था। वह स्वयं ही कहता था कि वह अधिक दिन इस जगत् में रहेगा नहीं। कुछ प्रयोजन-साधन के लिए इस जगत् में आया है, उद्देश्य की पूर्ति होते ही चला जायेगा। वही हुआ। उसकी मृत्यु के समय मैं उपस्थित नहीं था। इसलिए अन्तिम समय में उनकी अवस्था किस प्रकार की थी, यह नहीं कह सकूंगा। प्रायः छह सात वर्ष मुझे उसका संग मिला था। उसके प्रथम भाग में ही ये सब वाक्य संगृहीत हुए थे। बाद में वह तत्त्वकथा अधिक कहता नहीं था, अपने ही भाव में रहता था। इन सब वाक्यों का संशोधन मैंने नहीं किया है—केवल किसी-किसी जगह भाषा मात्र ठीक कर दी है। मुझे लगता है कि आध्यात्मिक साहित्य में यह संरक्षित होने योग्य है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh